प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
के लिए प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक
डा० रामकुमार वर्मा
पद्मभूषण

लेखिका
डा० उर्मिला जैन

प्रकाशक
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्रा०) लि०,
हीराबाग, सी० पी० टैंक, बम्बई-४
शाखा : २१, दरियागंज, दिल्ली-६

प्राक्कथन

आधुनिक हिन्दी-काव्य में सन्निहित विभिन्न जीवन-दृष्टियों के विभिन्न पक्षों पर बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु क्रान्तिपरक विचार-धाराओं का अध्ययन अभी तक नहीं हुआ।

काव्य के इस अछूते पक्ष की ओर डा० रामकुमार वर्मा की दृष्टि गयी और उन्होंने मुझे 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में क्रान्ति की विचार-धाराएँ' विषय पर शोध-कार्य करने का आदेश दिया। प्रारम्भ में यह कार्य मुझे अत्यन्त जटिल लगा। कारण, एक तो 'क्रान्ति' शब्द ही अपने-आप में उलझा शब्द है। इस शब्द का विस्तार कई-कई विभिन्न अर्थों में है। दूसरे, विषय सर्वथा नवीन था, किन्तु डाक्टर साहब के प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन से प्रेरणा पाकर मैंने इस विषय पर शोध-कार्य का निश्चय किया।

शोध-कार्य में कई कठिनाइयाँ आयीं। पहले तो 'क्रान्ति' की व्याख्या कठिन रही, क्योंकि इस विषय पर बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध है। जो है, वह भी किसी वर्ग-विशेष से प्रभावित होने के कारण पूर्वाग्रह सहित है। फिर, कई आलोचक भारतेन्दु-युगीन हिन्दी-काव्य में क्रान्ति नहीं पाते। उनके अनुसार भारतेन्दु और भारतेन्दुयुगीन अन्य कवि सुधारवादी थे। लेकिन जब हम तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में उनके काव्य का अध्ययन करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि वे क्रान्तिकारी थे। उदाहरणार्थ, १८५७ की क्रान्ति का अंग्रेजों ने बुरी तरह दमन किया था। ब्रिटिश राज्य का आतंक समस्त राष्ट्र पर व्याप्त था। ऐसी आतंकवादी परिस्थिति में भारतेन्दु, प्रेमघन आदि ने अंग्रेजों की राजनीतिक, आर्थिक आदि नीतियों की आलोचना की। तत्कालीन परिस्थिति में सरकार की आलोचना करने का साहस किसी कान्तिकारी में ही हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि भारतेन्दुयुगीन काव्यधारा में भी क्रान्ति की विचार-धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। हमने इस प्रबन्ध के अन्तर्गत सन् १८५० से १९५० तककी अवधि विवेचन के लिए ली है। कारण, आधुनिक हिन्दी-काव्य का आरम्भ १८५० से माना गया है। अतः इस प्रबन्ध में भी भारतेन्दु-युग से ही विवेचना प्रारम्भ हुई है।

शोध-कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् विषय सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक समस्याएँ आती रहीं किन्तु डाक्टर रामकुमार वर्मा ने विषय में दक्षता, प्रगाढ़ औत्सुक्य एवं तत्परता के साथ वात्सल्य, स्नेह तथा अनवरत प्रोत्साहन सहित अपना अमूल्य समय देकर सदा मेरी समस्याओं का समाधान किया। वस्तुतः कहा जा सकता है कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उनके औदार्य स्वरूप ही प्रतिफलित हुआ है। प्रबन्ध पूर्ण हो जाने पर पूर्ण रूप से उसकी पाण्डुलिपि पढ़ने का भी कष्ट उन्होंने किया। इस प्रकार विषय-निर्वाचन से लेकर कार्य समाप्त होने तक उनका अनवरत मार्ग-दर्शन मेरा सम्बल

रहा। उनके इस औदार्यपूर्ण स्नेह के लिए मुझसे धन्यवाद की औपचारिकता भी नहीं बरती जाती। उनके आशीर्वाद की चिर आकांक्षी हूँ।

विषय-सामग्री की खोज के लिए मैंने विशेषतः प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय, प्रयाग, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन संग्रहालय, प्रयाग, भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग और काशी नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी से सहायता ली है। मैं इन सभी संस्थाओं के अधिकारियों की आभारी हूँ।

अन्ततः प्रबन्ध विद्वान् मनीषियों के समक्ष प्रस्तुत है। विषय जटिल और विस्तृत होने के बावजूद मैंने क्रान्तिपरक विचारों के विविध आयामों के विश्लेपण का यथा-सम्भव साहसिक प्रयत्न किया है। यह प्रबन्ध आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा के विश्लेषण और मूल्यांकन का एक नवीन चरण है। विश्वास है, साहित्य के अध्येताओं के लिए यह चिन्तन की एक नयी दिशा प्रस्तुत करेगा।

—उर्मिला जैन

अनुक्रम

क्रान्ति और मानव विकास

क्रान्ति मानव के विकास की एक कथा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के विकास के पीछे क्रान्ति का बहुत बड़ा हाथ है। मानव के सर्वांगीण विकास की वह आधारशिला है। सम्भव है कि क्रान्ति के अभाव में मानव आदिम सभ्यता से आगे नहीं बढ़ा होता और विकास की साम्प्रतिक ऊँचाई उसे प्राप्त नहीं होती। जीवन की नयी दिशाओं की खोज का श्रेय क्रान्ति को है।

क्रान्ति जीवन की स्वाभाविक गति है। एकरस जीवन जीते-जीते मनुष्य में औदास्य, श्लथता और नीरसता आ जाती है। इसलिए वह जीवन की गति में परिवर्तन चाहता है। परिवर्तन ही जीवन है। परिवर्तन के अभाव में जीवन जड़ हो जायगा। यह जड़ता ही मृत्यु है। इसलिए अपेक्षित है कि पुरानेपन को छोड़कर जीवन नयी धार बहे, नये कूलों को चूमे, नयी दिशाओं की ओर अग्रसर हो। यही उसकी स्वाभाविकता है।

क्रान्ति की व्याख्या

शब्दकोशों में क्रान्ति का तात्पर्य ऐसा परिवर्तन बताया गया है, 'जिससे समाज में उथल-पुथल हो जाती है, सामाजिक संघटन बदल जाता है तथा मौलिक नवनिर्माण होता है[१]।' मेजिनी के अनुसार, 'इतिहास-पुरुष के जीवन में होनेवाली सम्पूर्ण उथल-पुथल का नाम है क्रान्ति[२]।' उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो ने क्रान्ति की विवेचना करते हुए कहा है : 'क्रान्ति किन तत्त्वों की बनी होती है ? किसी तत्त्व की भी नहीं और सभी तत्त्वों की, ऐसी बिजली जो एकाएक छूट पड़ती है, कौंध जाती है, ऐसी चिनगारी जो एकाएक प्रज्वलित हो पड़ती है, ऐसी घुमक्कड़ शक्ति—और महज एक साँस की[३]।' चेस्टर बोल्स के शब्दों में 'क्रान्ति और विकास दोनों में परिवर्तन का भाव है। प्रथम शब्द द्वितीय की अपेक्षा शीघ्रगामी परिवर्तन का अर्थ देनेवाला समझा जाता है[४]।' श्री जवाहरलाल नेहरू ने 'विश्व इतिहास की झलक' में क्रान्ति के विश्लेषण में कहा है, 'खुशहाली और क्रान्ति में मेल नहीं होता। क्रान्ति का अर्थ है परिवर्तन।' दादा

१. क्रान्तिवाद—विश्वनाथ राय, पृ० ७।

२. भारतीय स्वातन्त्र्य समर—विनायक दामोदर सावरकर, पृ० ३।

३. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १८ अगस्त १९५७ के अंक में वृन्दावनलाल वर्मा का निबन्ध।

४. क्रान्ति के नूतन क्षितिज—चेस्टर बोल्स, पृ० २४५।

धर्माधिकारी क्रान्ति का अर्थ 'पूँजीवादी मूल्यों का समूल निराकरण' मानते हैं[१]। महात्मा गांधी ने क्रान्ति की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए बताया, 'क्रान्ति स्थापित व्यवस्था की अवज्ञा का ही नाम है। अवज्ञा संघर्ष का प्रजनन करती है और विद्रोहियों का शस्त्र उस अवज्ञा का परिपोषण करता है। क्रान्ति यदि सफल होती है तो वर्तमान नष्ट होता है और उध्वस्त के आधार पर अभिवांछित नव-व्यवस्था स्थापित होती है। सत्याग्रह भी ठीक इसी क्रिया का सम्पादन है। वह अवज्ञा का पथ लेकर बढ़ता है और प्रचण्ड संघर्ष का उद्भव कर देता है[२]।' विनोबा भावे ने भूदान क्रान्ति की व्याख्या में कहा है, 'जहाँ गाँवों के लोग अपने जीवन से व्यक्तिगत मालकियत मिटा देते हैं, वहीं मूल्य-परिवर्तन होता है। इसी मूल्य-परिवर्तन को शांतिमय क्रान्ति कहते हैं[३]।'

क्रान्ति एक मौलिक परिवर्तन

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर यह साफ प्रकट हो जाता है कि क्रान्ति असन्तोष से उत्पन्न होती है। असन्तोष के कारण जनवर्ग वर्तमान शासन की अवज्ञा करता है और तब एक संघर्ष होता है। संघर्ष हिंसक या अहिंसक हो सकता है, किन्तु क्रान्ति की सफलता से पुरातन व्यवस्था समाप्त हो जाती है और उसकी जगह नयी व्यवस्था स्थापित होती है। अतः क्रान्ति का अर्थ महान् मौलिक परिवर्तन है, जो राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, बुराइयों, रूढ़ियों तथा कुप्रथाओं को मिटाकर सार्वजनिक मङ्गल के लिए नयी व्यवस्था का संघटन करता है।

क्रान्ति एक मानवतावादी दृष्टि है। न्याय का मार्ग जब अवरुद्ध हो जाता है; परम्परित सामाजिक प्रथाएँ, रीतियाँ तथा नियम जब मानव-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध करने लगते हैं, समाज और राष्ट्र जब रुढ़ियों, दोषों और परम्पराओं के कारण जड़ हो जाते हैं, तब नयी शासन-प्रणाली, नयी नीति और समाज-व्यवस्था के संघटन के लिए क्रान्ति की अपेक्षा होती है। यह क्रान्ति मानव-मङ्गल की दृष्टि से उत्पन्न होती है। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर असेम्बली बम केस में सरदार भगतसिंह ने न्यायालय में कहा था—'विप्लव से हम लोगों का मतलब समाज की ऐसी व्यवस्था है, जिसमें ऐसे पतन का भय न हो तथा जिसमें श्रमिकों की राज्यसत्ता मान्य हो जाय और उसके फलस्वरूप विश्वसंघ मानवता को पूँजीवाद, दुःख तथा युद्ध के संकट से सुरक्षित कर दे... क्रान्ति मानव जाति का अविच्छेद्य अधिकार है[४]।'

क्रान्ति एक राजनीतिक स्थिति

सामान्यतः क्रान्ति को राज्यक्रान्ति के अर्थ में समझा जाता है। जब कोई जाति

१. क्रान्ति का अगला कदम—दादा धर्माधिकारी, पृ० ५१।
२. बापू और मानवता—कमलापति शास्त्री, पृ० २७७।
३. क्रान्ति की राह पर—निर्मला देशपाण्डे, पृ० १२४।
४. क्रान्तिवाद—विश्वनाथ राय, पृ० ११।

दासता के जुए को उतारने के लिए विदेशी शासन के विरोध में उठ खड़ी होती है, तो इस कार्य को क्रान्ति कहते हैं, क्योंकि दासता की जगह स्वतन्त्रता प्राप्त करने की आकांक्षा से किया गया यह विरोध वर्तमान स्थिति में परिवर्तन चाहता है। तात्पर्य यह कि शासन-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के लिए क्रान्ति शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु, क्रान्ति शब्द का विस्तार केवल राज्यक्रान्ति तक ही नहीं है। मानव जाति की प्रत्येक समस्या को सुलझाने के लिए कुरीतियों, रूढ़ियों आदि में परिवर्तन के लिए किया गया विरोध क्रान्ति है। साधारणतः 'किसी चीज या व्यवस्था में आमूल परिवर्तन करके कोई नयी प्रणाली जारी करने को भी क्रान्तिकारी परिवर्तन कहते हैं[1]।' किन्तु इसके पश्चात् राज्यक्रान्ति को ही क्रान्ति मानते हुए उन्होंने कहा, 'पर हम सिर्फ राज्य-क्रान्ति को क्रान्ति मानेंगे। पर यहाँ राज्यक्रान्ति व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है-आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मसले भी इसके अन्दर आ जायेंगे[2]। फ्रांसिस गुन्थर ने भी क्रान्ति को राजनीतिक प्रकृति का बताया है।[3]

क्रान्ति परिवर्तन की प्राकृतिक स्थिति है। यह परिवर्तन केवल राजनीतिक समस्याओं तक ही सीमित नहीं है। मनुष्य केवल राजनीतिक संस्थाओं से ही सम्बद्ध नहीं है। और भी अनेक संस्थाओं के प्रति उसकी प्रतिबद्धता है। संस्थाओं के अपने नियम हैं। जब कभी इन नियमों में कठोरता, कुरीति या रूढ़ि आ जाती है, मनुष्य के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। तब वह इन नियमों में परिवर्तन चाहता है। उसके लिए वह विरोध करता है। यह विरोध कभी हिंसक और कभी अहिंसक रहता है। परिस्थितियाँ ही हिंसा अथवा अहिंसा के लिए मनुष्य को बाध्य करती हैं। तात्पर्य यह कि कष्ट की मात्रा और परिस्थिति की गम्भीरता के आधार पर हिंसा अथवा अहिंसा का आलम्बन क्रान्ति में होता रहता है।

राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक—सभी क्षेत्रों में परिस्थितिवश परिवर्तन होता है, क्योंकि उसके बिना जीवन की गति अवरुद्ध हो जाती है। इसलिए परिवर्तन के चरण स्वाभाविक रूप से उठते हैं और क्रान्तियाँ होती हैं। रूस और फ्रांस की राज्यक्रान्तियाँ मानव-कल्याण के लिए जिस हद तक आवश्यक हैं, औद्योगिक क्रान्ति का महत्त्व भी उससे कम नहीं है। भारत तथा यूरोप में होनेवाली धार्मिक और सांस्कृतिक क्रान्तियों की मूल दृष्टि भी मानव-मङ्गल ही रही है।

आज क्रान्ति शब्द का प्रयोग प्रत्येक परिवर्तन के लिए होने लगा है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में होनेवाला परिवर्तन क्रान्ति है। इसलिए आज के सन्दर्भ में क्रान्ति को राज्य तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। इस युग में वैचारिक क्रान्ति की चर्चा भी होने लगी है। इसलिए मानव की प्रत्येक परिस्थिति, उसके प्रत्येक संघटन में होनेवाला परिवर्तन क्रान्ति के अन्तर्गत आता है।

---

१. क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा—स्वामी सहजानन्द सरस्वती, पृ० १।
२. वही, पृ० २।
३. रिवोल्यूशन इन इण्डिया—फ्रांसिस गुन्थर, पृ० १०।

क्रान्ति एक मनःस्थिति

क्रान्ति एक मनःस्थिति है। वर्तमान स्थिति के विरोध में जनता के मन में उठनेवाला परिवर्तन का भाव क्रान्ति है। यों यह भाव क्रिया रूप में भी प्रकट होता है, किन्तु क्रान्ति भावना मौलिक रूप में मानसिक स्थिति है। अनेक जातियाँ, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, कुरीतियों और अत्याचारों को झेलती हैं, किन्तु उनके प्रति विरोध भाव उनके मन में नहीं आता। विरोध का भाव उत्पन्न होते ही वैचारिक क्रान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और तब उस मनःस्थिति का क्रियात्मक प्रतिफलन वर्तमान स्थिति, अत्याचार, परतन्त्रता, अन्धविश्वास एवं रूढ़ि को नष्ट कर नये मूल्यों की स्थापना में प्रकट होता है। यदि वैचारिक क्रान्ति न हो तो सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक क्रान्तियों की स्थिति ही उत्पन्न नहीं हो सकती। वैचारिक क्रान्ति ही सारी क्रान्तियों का मूल है। विचार मन की क्रिया है। इस प्रकार क्रान्ति की मूल प्रेरणा मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। विरोध की मनःस्थिति होने, पीड़ा, अत्याचार एवं जड़ता से ऊबने और नवीनता को ग्रहण करने की इच्छा होने पर ही परिवर्तन होता है। इस दृष्टि से क्रान्ति मन की इच्छा शक्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति विरोधों, हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक कार्रवाइयों के माध्यम से होती है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में क्रान्ति शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया गया है। इस दृष्टि से वह राज्य-क्रान्ति, सामाजिक क्रान्ति, आर्थिक और धार्मिक क्रान्ति को भी अन्तर्भूत किए हुए है। दुःशासन और दुःस्थिति के मानसिक विरोध की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति क्रान्ति है, जो वर्तमान स्थिति में आमूल परिवर्तन कर नये मूल्यों के आधार पर नयी संस्थाओं तथा मनःस्थिति का निर्माण करती है। क्रान्ति जड़ता से चेतनता की ओर, रूढ़ि से नये मूल्यों की ओर और पीड़ा से सुख की ओर मानव को अग्रसर करती है। इसकी मूल प्रेरणा मानवीय है।

क्रान्ति के आधार

क्रान्ति और अस्तित्ववादी

मानव मूल रूप से अस्तित्ववादी है। वह अपना अस्तित्व कायम रखना चाहता है और इसी कारण परिस्थितिवश उसमें अनन्त इच्छाएँ और अनेक उच्चादर्श उभरते हैं। अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह अनेक कार्य करता है और उनके अपूर्ण रहने पर उसमें मानसिक हलचल उत्पन्न हो जाती है। यही मानसिक हलचल विचारों में परिवर्तन कर क्रान्ति का सूत्रपात करती है। मनुष्य के जीवन में कुछ आदर्श होते हैं। इन आदर्शों का पालन वह जी-जान से करता है। जब भी ये आदर्श किसी चोट से ढहने लगते हैं, मनुष्य तिलमिला उठता है। उसका हृदय एक हलचल से आन्दोलित हो जाता है। इसी आन्दोलन के गर्भ से क्रान्ति का जन्म होता है। सामान्यतः अन्याय, अत्याचार और अपमान के कारण क्रान्ति उत्पन्न होती है। जब कोई शासक शासित पर अत्याचार करता है, उसे उसका न्याय नहीं देता, पद-पद पर उसे

अपमानित करता है, तो अत्याचारी के प्रति घोर घृणा हो जाती है और यह घृणा विरोध, विद्रोह तथा क्रान्ति के रूप में झलक उठती है। जनता दुःशासन का सदा विरोध करती है और इस प्रकार क्रान्तियाँ युग-युग से होती आयी हैं।

राजनीतिक और आर्थिक कारण

'परतन्त्र देशों में क्रान्ति का मुख्य कारण राजनीतिक और आर्थिक होता है[1]।' अत्याचार और शोषण की भीषणता असह्य होने पर सहनेवाला सजग हो जाता है। यह सजगता अत्याचार का विरोध करने में प्रकट होती है। इस विरोध से अत्याचारी में अधिक भीषण प्रतिक्रिया होती है। प्रतिक्रियावश वह और भयानक हो जाता है। सजग मानवता को वह असह्य लगती है और वह शासन-तन्त्र को चकनाचूर कर नयी व्यवस्था स्थापित करना चाहती है। इसलिए वे राज्यक्रान्ति में शासन तन्त्र को चूर-चूर कर नया शासन स्थापित करना चाहते हैं। मार्क्स ने म्यूगलमान को कभी लिखा था 'अब तो क्रान्ति का काम है उस यन्त्र को चूर-चूर कर देना[2]।'

विश्व में जितनी राज्यक्रान्तियाँ हुई हैं, सब के मूल में अत्याचार, अन्याय और अपमान का विरोध भाव रहा है। यह विरोध भाव अपनी उग्रता में बड़ा भयानक होता है और इस भयानकता को अत्याचारी सह नहीं पाता, वह टूट जाता है और उसके ध्वस्त शासन की राख पर नयी शासन व्यवस्था उगती है। राज्य-क्रान्ति की उत्पत्ति का बड़ा सुन्दर स्वरूप जवाहरलाल नेहरू ने 'विश्व इतिहास की झलक' में अंकित किया है, 'लेकिन क्रान्तियाँ और ज्वालामुखी पहाड़ बिना कारण या बिना बहुत दिनों की तैयारी के एकाएक नहीं फूट पड़ते। हम एकाएक होनेवाले विस्फोट (धड़ाके) को देखकर ताज्जुब करते हैं, लेकिन जमीन की सतह के नीचे युगों तक बहुत-सी ताकतें आपस में टकराया करती हैं और आग में सुलगा करती हैं। आखिर में ऊपर की पपड़ी उसको ज्यादा देर दबाकर नहीं रख सकती और ये ज्वालाएँ आकाश तक उठनेवाली विकट लपटों के साथ फूट पड़ती हैं और पिघलता हुआ पत्थर (लावा) पहाड़ पर से नीचे की तरफ बहने लगता है। ठीक उसी तरह वे तख्तें, जो आखिरकार, क्रान्ति की शक्ल में जाहिर होती हैं, समाज की सतह के नीचे वर्षों तक खेला करती हैं[3]।' युगों तक अत्याचार, अन्याय सहन करने के बाद क्रान्ति फूटती है। जनता अत्याचार के मूल को मिटाने के लिए हिंसा अथवा अहिंसा का, यथापरिस्थिति आलम्बन करती है।

स्वतन्त्रता के लिए क्रान्ति

किसी-किसी देश में स्वतन्त्रता के लिए राज्यक्रान्ति होती है। भारत उसका ज्वलन्त उदाहरण है। ब्रिटिश शासन के अत्याचार ने जनता में विरोध पैदा किया और

---

१. क्रान्तिवाद—विश्वनाथ राय, पृ० ३० ।
२. क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा—स्वामी सहजानन्द, पृ० ६ ।
३. विश्व-इतिहास की झलक—जवाहरलाल नेहरू, पृ० ५११ ।

विभिन्न आन्दोलनों की हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक क्रान्तियों ने भारत को स्वतन्त्रता दिलायी। इस क्रान्ति के फलीभूत होने में कई दशाब्दियाँ लग गयीं। क्रान्ति क्षणिक क्षोभ या ग्लानि के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होती। युगों के अत्याचार और उत्पीड़न को सहते-सहते छोटे-मोटे विरोध प्रकट करने के उपरान्त सहसा एक बार क्रान्ति उत्पन्न होती है। विदेशी शासन की प्रतिक्रिया से उत्पन्न क्रान्ति अपनी चोट से विदेशी शासन-व्यवस्था को चूर कर देती है और उसके बदले एक नयी शासन-व्यवस्था स्थापित करती है। यह शासन व्यवस्था जनता की इच्छा पर निर्भर करती है। जनता के लिए जनता के द्वारा स्थापित नयी शासन-व्यवस्था जनतांत्रिक हो जाती है। इसका कारण यह है कि इस क्रान्ति में जनता का सहयोग होता है। इस कारण जो भी व्यवस्था स्थापित होती है, वह जनता के द्वारा संचालित होने लगती है।

क्रान्ति की प्रेरणाएँ

क्रान्ति का मुख्य कारण एक ध्येय-विशेष होता है। इसके बिना क्रान्ति नहीं हो सकती। ध्येय की प्राप्ति के लिए जितनी ही अधिक तीव्र इच्छा होगी, क्रान्ति में भी कमोवेश उसी सीमा तक उत्तेजना रहेगी। यह ध्येय उच्च आदर्श की प्राप्ति, स्वतन्त्रता-प्राप्ति, अत्याचार, अन्याय से मुक्ति, सामाजिक तथा आर्थिक विकास, धार्मिक तथा सांस्कृतिक उत्कर्ष, कुछ भी हो सकता है। मनुष्य की अनेक इच्छाएँ, अनेक ध्येय होते हैं किन्तु उदात्त कोटि की वे होती हैं जिनसे मानव-कल्याण होता है। कोई एक व्यक्ति क्रान्ति नहीं कर सकता, इसलिए सार्वजनिक मानव-मङ्गल के उपर्युक्त ध्येय श्रेष्ठ हैं।

विश्व में अधिकतर राजनीतिक तथा आर्थिक क्रान्तियाँ ही हुई हैं। राजनीतिक क्रान्ति का कारण स्वतन्त्रता की प्राप्ति अथवा अन्यायपूर्ण शासन-व्यवस्था के बदले न्यायपूर्ण सुव्यवस्था स्थापित करना होता है, किन्तु राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक और आर्थिक क्रान्तियाँ भी समान रूप से होती हैं, क्योंकि इन कुरीतियों से मुक्ति की कामना भी राजनीतिक क्रान्ति में गुँथी हुई है।

सामाजिक क्रान्ति

जिन देशों में सामाजिक शासन-पद्धति के दोष के कारण सामाजिक परिस्थितियाँ तथा सामाजिक सम्बन्ध विषम हो जाते हैं, वहाँ सामाजिक क्रान्ति होती है। सामाजिक क्रान्ति का महत्त्व भी कम नहीं है। समाज का विधि-निषेध मनुष्य के दैनन्दिन जीवन को संचालित करता है। जब कभी ऐसे विधि-निषेध में समानता तथा न्याय नहीं रह जाते, मनुष्य सामाजिक क्रान्ति की ओर अग्रसर होता है। वह समाज में नये मूल्यों की स्थापना करता है। यह क्रान्ति शांतिपूर्ण ढंग से चलती है। उसमें कभी उग्रता नहीं आती। हिंसा भी शायद ही कभी अपनायी गयी हो।

आर्थिक क्रान्ति

सामाजिक क्रान्ति की तरह आर्थिक क्रान्ति भी महत्त्वपूर्ण है। पूँजीवादी व्यवस्था में

असमानता के कसाव और भीषणता को खत्म करने के लिए मजदूरों का आन्दोलन उठ खड़ा होता है। इस प्रकार की क्रान्ति ने रूस में जार के अत्याचारी शासन को समाप्त कर और पूँजीपतियों के शोषण को मिटाकर नयी राज्य तथा अर्थ-व्यवस्था को सर्वहारा के अधिनायकवाद के रूप में स्थापित किया है। पूँजीवाद को राजतन्त्र में सम्पोषण मिलता है, अतः आर्थिक क्रान्ति के क्रोड़ में राज्यक्रान्ति भी अवश्य होती है। इसीलिए विश्व की राज्य तथा अर्थक्रान्तियाँ प्रायः साथ-साथ हुई हैं। आर्थिक क्रान्ति का मूल उद्देश्य समानता की स्थापना है। पूँजीवाद को खत्म कर समानता के आधार पर नयी अर्थ-व्यवस्था इस क्रान्ति के फलस्वरूप आती है, जो प्रत्येक मानव को समान कार्य के लिए समान पारिश्रमिक के सिद्धान्त को मानती है। इस अर्थ-व्यवस्था का प्रवर्तक मार्क्स था, जिसने अपने सिद्धान्तों के माध्यम से इन तथ्यों का सांगोपांग प्रतिपादन किया है। उसके सिद्धान्तों के आधार पर क्रान्ति के लिए संघटित वर्ग साम्यवादी दल के रूप में प्रत्यक्ष हुआ और उसने वर्ग-संघर्ष और सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा रूस में नयी राज्य और अर्थ-व्यवस्था स्थापित की। चीन आदि देशों में भी इसी तरह की अर्थ-क्रान्तियाँ हुई हैं।

धार्मिक क्रान्ति

धार्मिक क्रान्ति भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जर्मनी के मार्टिन लूथर ने रोमन कैथोलिक के विरुद्ध प्रोटेस्टेण्ट पन्थ चलाया। यह क्रान्ति ईसाई धर्म की रूढ़िवादिता आदि के फलस्वरूप हुई। ऐसी क्रान्तियों का उद्देश्य धार्मिक रूढ़िवादिता और कठोरता को मिटा कर सुगम और प्रगतिशील नीति-व्यवस्था कायम करना होता है। धार्मिक रूढ़ियाँ और कठोरताएँ जब मानव के विकास में बाधक होने लगती हैं तो उन्हें नष्ट कर कुछ सुगम और प्रगतिशील कार्य-व्यवस्था कायम की जाती है। धार्मिक क्रान्ति प्रत्येक देश में इसी उद्देश्य को लेकर होती रही है। वैदिक धर्म की कठोरता और रूढ़िवादिता की प्रतिक्रिया में बौद्धधर्म उत्पन्न हुआ।

सामाजिक कल्याण और क्रान्ति

क्रान्ति के अनेक कारणों का एकमात्र कारण सामाजिक कल्याण है। क्रान्ति इनमें से किसी एक कारण से भी उत्पन्न हो सकती है और समाज के किसी एक क्षेत्र में किसी विशेष तरह का परिवर्तन ला सकती है, किन्तु मूल में सभी कारण इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि उन्हें अलग सन्दर्भ में रखकर किसी विशेष क्रान्ति के उदय की बात कहना उपयुक्त नहीं है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारण एक-दूसरे पर इस प्रकार आधारित हैं कि लगता है, ये सभी आधार क्रान्ति के अनिवार्य कारण हैं। रूस, चीन, फ्रांस, अमेरिका एवं भारत आदि देशों की क्रान्तियों के पीछे ये सभी कारण अवश्य रहे हैं। धार्मिक कारण भी इन क्रान्तियों में प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रहे हैं, यह कहना अनुचित न होगा। इस तरह धार्मिक कुण्ठाएँ परतन्त्र और निरंकुश शासन में इतनी

बढ़ जाती हैं कि इन्हें अलग नहीं किया जा सकता। अतः किसी एक कारण की अभिव्यक्ति क्रान्ति के उद्भव का मूल कारण नहीं है।

क्रान्ति के रूप

क्रान्ति चार प्रकार की हो सकती है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक। प्रत्येक क्रान्ति अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति का अनिवार्य फल सामाजिक क्रान्ति है। पर यह कहना अनुचित न होगा कि राजनीतिक क्रान्तियों में अन्य क्रान्तियाँ जुड़ी हुई हैं। धार्मिक क्रान्ति भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है।

राजनीतिक क्रान्ति

अन्य जातीय शासन की समाप्ति के लिए शासितों द्वारा किया गया विद्रोह राष्ट्रीय क्रान्ति है। इसके माध्यम से बहुत बड़े परिवर्तन होते हैं। शासन के अत्याचारों से शासितों के स्वाभिमान को जो ठेस पहुँचती है वह क्रान्ति के लिए सन्नद्ध हो जाती है। शासन के महत्त्वपूर्ण पदों पर शासितवर्ग के ही प्रभावशाली व्यक्ति प्रतिष्ठित हो जाते हैं। भारत की विदेशी शासन से मुक्ति पाने की आकांक्षा राष्ट्रीय-क्रान्ति ही थी।

राजनीतिक क्रान्ति के एक रूप में किसी विदेशी शासन का नहीं, बल्कि सामन्तशाही या किसी अत्याचारी शोषक का विरोध होता है। क्रान्तिकारी कभी तो समस्त जनता रहती है और कभी कोई एक गुट। समस्त जनता की क्रान्ति जब स्वतन्त्रता प्राप्त करती है, तो समाजवादी प्रजातन्त्रात्मक क्रान्ति कहलाती है। राजनीतिक क्रान्ति के इस प्रकार में शासन के ही साथ अर्थ-व्यवस्था भी शोषितों के हाथ में आ जाती है। वस्तुतः समाजवादी क्रान्ति पूँजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा के विरोध की भी अभिव्यक्ति है। पर सामन्तशाही के विरुद्ध क्रान्ति होकर सत्ता जब दूसरे गुट के हाथ में चली जाती है, तो उसे पूँजीवादी प्रजातन्त्रात्मक क्रान्ति कह सकते हैं। इस क्रान्ति से राज्याधिकार एक व्यक्ति या गुट के हाथों से निकल कर दूसरे दल या वर्ग के हाथों में चला जाता है, किन्तु आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन न होने से पूरे वर्ग का कष्ट दूर नहीं हो पाता।

पर राजनीतिक क्रान्ति के उपर्युक्त प्रकार विवेचन की दृष्टि से ही उपयुक्त हैं, अन्यथा सबके मूल में राजनीतिक शोषण से मुक्ति की कामना ही रहती है। राजनीतिक क्रान्ति ही महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली क्रान्ति है। संघर्ष की तीव्रता के कारण उसे सहज ही महत्त्व मिल जाता है। राजनीतिक क्रान्ति में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्रान्तियाँ भी साफ-साफ उभरती रही हैं। किन्तु विश्व में सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्रान्तियाँ, राजनीतिक क्रान्ति से अलग भी हुई हैं।

धार्मिक क्रान्ति

धर्म रूढ़ियों के कटघरे में घिर कर जड़ बन जाता है। उसका सारा

स्पन्दन, सारी सप्राणता खत्म हो जाती है। रूढ़ियों की जकड़ में अधिक कसाव ले आने का श्रेय धार्मिक पंडों को है। धर्म को वे अधिक कर्मकाण्डी बना देते हैं, जिसका लक्ष्य प्रकारान्तर से जनवर्ग का शोषण है। इस शोषण और अत्याचार, रूढ़िवादिता, परम्परा, जड़ता, कर्मकाण्ड आदि के विरोध में धार्मिक क्रान्तियाँ होती हैं। परम्परित धर्म के विरोधियों के प्रति धार्मिक सत्ताधारी अनेक प्रकार से अत्याचारी हो उठते हैं। मंसूर, ईसामसीह जैसे अनेक व्यक्ति धर्म के कारण शहीद हुए हैं। उन्होंने सत्य का मार्ग अन्ततक गहा है, सब कुछ सहा है, जो उचित समझा है, कहा है। प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक ईसाई मत के संघर्ष के भीषण नरमेध और विनाश को भी भुलाया नहीं जा सकता। किन्तु जनता और जनता के सच्चे प्रतिनिधि इन विरोधों की परवाह नहीं करते। अनेक त्याग, उत्सर्ग और अत्याचारों को सहन कर वे जनता के लिए नये मार्ग को खोज निकालते हैं। जड़ और परम्परा पर चेतन और नवीन की विजय होती है। नये धर्म का प्रवर्तन होता है, पुराना धर्म टूट जाता है।

धर्म मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। वह हमारी दिनचर्या है। इसलिए परम्परा और रूढ़ि के विरोध में उपजने वाली धार्मिक क्रान्ति भी महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक क्रान्ति के साथ धार्मिक क्रान्तियाँ भी अक्सर होती रहती हैं, क्योंकि परतंत्र जाति में रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, अन्धविश्वास अधिक होते हैं। उन्हें मिटाने के लिए नये धर्म का प्रवर्तन, सुधारों की नयी दिशाएँ फूटती हैं। आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, ब्रह्मसमाज आदि ने भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति को नया मोड़ दिया। धार्मिक सुधारों और परिवर्तनों ने जीवन को नयी शक्ति, नयी गति और नया आत्मविश्वास दिया है, जिसके बल पर राष्ट्रीय और राजनीतिक क्रान्ति अधिक तीव्र, अधिक पूर्ण और अधिक सफल हुई है।

सामाजिक क्रान्ति

जवाहरलाल नेहरू के अनुसार सामाजिक क्रान्ति में राजनीतिक क्रान्ति भी सम्मिलित है।[१] सामाजिक क्रान्ति समाज का ढाँचा ही बदल देती है। इस परिवर्तन में राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक परिवर्तन भी बहुधा अन्तर्भूत हो जाते हैं। श्री नेहरू ने फ्रांस और इंगलैण्ड की राज्यक्रान्तियों को बहुत हद तक सामाजिक कहा है।[२] उन्होंने आगे कहा है कि 'ऐसी सामाजिक क्रान्तियों के अंजाम सिर्फ सियासी इनक्लाब से कहीं ज्यादा गहरे और मुकम्मल होते हैं और उनका सामाजिक हालत से गहरा ताल्लुक होता है।'[३] विषम सामाजिक परिस्थितियाँ ही सामाजिक क्रान्ति को प्रेरणा देती हैं। जब सामाजिक जीवन बोझ बन जाता है और विषम स्थिति को बर्दाश्त करना कठिन हो जाता है, तब जनता सुधार का कोई अन्य रास्ता न देख, सामाजिक क्रान्ति का

१. विश्व इतिहास की झलक—जवाहरलाल नेहरू, पृ० ७१३।
२. वहीं।
३. वहीं।

सहारा लेती है। इस क्रान्ति से समाज का ढाँचा बदल जाता है, रूढ़ियाँ टूट जाती हैं और नये मूल्य की स्थापना होती है। प्रत्येक देश में सामाजिक क्रान्तियाँ हुई हैं। इन क्रान्तियों से न केवल समाज का ढाँचा ही बदला, बल्कि बड़े-बड़े साम्राज्य भी ध्वस्त हो गये। स्पष्ट है कि सामाजिक क्रान्ति राजनीतिक क्रान्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण और व्यापक है। किन्तु जिस अर्थ में यहाँ सामाजिक परिस्थिति की चर्चा की गयी है, वह एक वर्ग अथवा जाति विशेष की नीतियों और स्थापनाओं से सम्बन्धित है। वह इतनी विस्तृत नहीं है कि राजनीतिक क्रान्ति भी उसमें अन्तर्भूत हो सके। पर इतना तो मानना ही होगा कि सामाजिक मनःस्थिति में परिवर्तन होने पर ही राजनीतिक अथवा अन्य कोई क्रान्ति सम्भव है।

आर्थिक क्रान्ति

आर्थिक क्रान्ति शोषण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। जहाँ समाज की अर्थ-व्यवस्था में समानता नहीं होती और समाज अमीर और गरीब में बँटा होता है, गरीबों की स्थिति असमानता और शोषण के कारण अत्यन्त कष्टप्रद और कठिन हो जाती है। कठिन श्रम के बावजूद जब मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं होतीं, तब शोषित वर्ग शोषकों के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। स्मरणीय है कि ऐसी क्रान्ति पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ही होती है। इन क्रान्तियोंका परिणाम समान अर्थ-व्यवस्था में होता है जहाँ काम के अनुसार रोटी मिलती है। इस क्रान्ति की चर्चा सामाजिक जनतन्त्रात्मक क्रान्ति के अन्तर्गत की जा चुकी है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय क्रान्ति के सन्दर्भ में आर्थिक क्रान्ति भी हुई। विदेशी शासन के अन्तर्गत भारत की अर्थ-व्यवस्था जीवन के उपयुक्त नहीं रह गयी थी। टैक्स, विदेशी वस्त्रों के आयात तथा विदेशी पूँजी के दबाव के कारण राष्ट्रीय उद्योगधन्धों का विनाश, विदेशी अर्थ-व्यवस्था के परिणाम थे, इसलिए राष्ट्रीय क्रान्ति के अन्तर्गत जन-वर्ग आर्थिक क्रान्ति की ओर भी अग्रसर हुआ। उसने टैक्स आदि का विरोध किया। स्वदेशी वस्त्रों के उपयोग और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के माध्यम से भारतीय उद्योग-धन्धों को विकसित करने की इच्छा प्रकट की तथा विदेशी वस्तुओं के आयात का विरोध किया।

विदेशी शासन में न केवल राजनीतिक, बल्कि आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं पर भी शासक का प्रभाव होता है। अर्थतंत्र तो पूरी तरह शासकों के अधि-कार में रहता है, क्योंकि अर्थ राज्य व्यवस्था का अनिवार्य अंग है। जहाँ भी विदेशी शासन समाप्त करने के प्रयत्न हुए हैं, अर्थ-व्यवस्था में भी क्रान्ति की गयी है। क्योंकि अर्थ-व्यवस्था में स्वतन्त्रता ले आये बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ हो जाती है। इसलिए राष्ट्रीय क्रान्ति के अन्तर्गत होनेवाली राजनीतिक क्रान्ति के साथ आर्थिक क्रान्ति भी अनिवार्य रूप से चलती है।

क्रान्ति और सुधार

कभी-कभी क्रान्ति के परिवर्तनों को सुधार के अन्तर्गत गिन लिया जाता है। जैसे क्रान्ति समाज में व्याप्त किसी दोष के निवारण के लिए की जाती है, उसी प्रकार वर्तमान दोषों को दूर करने के लिए सुधार होते हैं। जहाँ तक परिवर्तन का सम्बन्ध है, क्रान्ति और सुधार में मात्रागत अन्तर ही होता है। वैसे उनकी नीतियों में भी अन्तर है, किन्तु लक्ष्य एवं क्रान्ति परवर्ती परिवर्तन की दृष्टि से दोनों समान हैं। सुधारवादियों को विकासवादी भी कहा जा सकता है, पर क्रान्तिवादी इससे भिन्न है। विकासवादी और सुधारवादी दोनों एक ही वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। सुधारवादी व्यवस्था में आये हुए दोषों में सुधार करके पूर्वस्थिति को, जब कि सुख-समृद्धि थी, पुनः स्थापना करना चाहते हैं।

सुधारवादी कई विधियाँ अपनाते हैं। निवेदन, प्रार्थना, आज्ञाकारिता, आग्रह और आन्दोलनात्मक कारवाइयाँ। इस प्रकार सुधारवाद समझौते की नीति है, क्रान्ति से भिन्न है। क्रान्ति दोषपूर्ण व्यवस्था को आमूल बदल देती है। समझौते पर उसका विश्वास नहीं, इसलिए क्रान्ति के बाद पुरानी व्यवस्था को मिटाकर नयी व्यवस्था आती है। इस प्रकार क्रान्ति और सुधार में अन्तर है।

सुधारवाद, विकासवाद और क्रान्ति

विकासवादी वर्तमान युग की सभी अच्छी व्यस्थाओं को मानते हैं और उनके माध्यम से आगे बढ़ते जाने का सिद्धान्त अपनाते हैं। वह शान्तिपूर्वक विकास का मार्ग है। सुधारवादी और विकासवादी सिद्धान्तों में लक्ष्यप्राप्ति की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं। दोनों का लक्ष्य वर्तमान व्यवस्था में सुधार करना है। सुधार का रास्ता निवेदन का रास्ता है। उसमें विलम्ब लगता है। दोनों समाज-व्यवस्था में नवीनता चाहते हैं, दोष दूर करना चाहते हैं किन्तु उसके लिए अपनाये जानेवाले साधन क्रान्ति से भिन्न हैं।

क्रान्ति और हिंसा

क्रान्तिकारी में इतना धैर्य नहीं कि वह दीर्घ काल तक प्रतीक्षा करे। वह लक्ष्य प्राप्ति में शीघ्रता चाहता है। उसमें असन्तोष, घृणा और क्रोध की भावना इतनी तीव्र होती है कि वह ठहर नहीं सकता। अन्यायपूर्ण एवं असमान व्यवस्था में शीघ्र परिवर्तन लाने के लिए वह क्रम और शान्ति के टूटने की चिन्ता नहीं करता। अतः वह हिंसा को भी माध्यम के रूप में ग्रहण करने को तैयार रहता है।

आक्रोश की तीव्रता और हिंसक क्रान्ति

प्रश्न उठता है कि क्रान्ति में इतना उतावलापन और इतनी अधीरता क्यों आती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य अपने सुन्दर सपने का यथाशीघ्र साकार करना चाहता है। वर्तमान दुरवस्था से असन्तोष के कारण उसके मन में आक्रोश है, क्रोध

है। क्रोधभाव के कारण ही क्रान्ति उत्पन्न होती है। लास्की ने 'भय को क्रान्ति का जनक बताया है[१]।' लास्की का भय शासन-व्यवस्थापक के पक्ष में है, जो क्रान्तिकारियों द्वारा अपने शासन के छिन जाने के भय से अधिक दमन करनेवाला, अधिक अत्याचारी भी हो सकता है। लास्की ने भय की स्थिति को सत्ताधारी पर आरोपित किया है। हमारी राय में शासक की अपेक्षा शासित में व्याप्त भय क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण कारण होता है। अपने भविष्य के स्वप्नों के साकार होने में सन्देह होने के कारण ही क्रान्तिकारी में भय उत्पन्न होता है। इसलिए वह उतावला रहता है और सुधार एवं शान्ति का क्रम मिटाकर क्रान्ति के माध्यम से पूरी शासन-व्यवस्था को ही बदल देता है। क्रान्ति का यह रूप भयानक और रौद्र होता है। इस रौद्र रूप में अमानुषिकता और क्रूरता भी होती है, क्योंकि उसके बिना नयी व्यवस्था शीघ्र नहीं आती।

सौम्य क्रान्ति का रूप

क्रान्ति के इस रौद्र रूप के अतिरिक्त उसका एक रूप सौम्य अथवा अहिंसक भी है। सौम्य क्रान्ति में भी संघर्ष का विधान है। वह भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र चाहती है। उसका लक्ष्य है—मानव-मङ्गल। कुछ लोग यह मानते हैं कि क्रान्ति अहिंसात्मक अथवा सौम्य नहीं होती। वह सदा हिंसात्मक होती है, किन्तु सन्त विनोबा ने इसका खण्डन किया है। भूदान की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस क्रान्ति का विश्लेषण प्रस्तुत किया है—'इस यज्ञ से असली क्रान्ति खत्म होगी, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। रक्तपात बिना असली क्रान्ति जैसे हो ही नहीं सकती। रक्तपात से केवल उथल-पुथल होती है, उथल-पुथल कोई क्रान्ति नहीं। क्रान्ति याने समाज की प्रचलित मान्यताओं को तेजी से आमूलाग्र बदलना। यह रद्दोबदल विचार-प्रचार से ही होता है, तलवार से नहीं[२]।' दादा धर्माधिकारी ने सशस्त्र क्रान्ति को छीना-झपटी का, जोर-जबरदस्ती का, हठधर्मी का रास्ता कहा है। वे कहते हैं, 'आश्चर्य है कि बड़े-बड़े अक्लमन्द लोग इसे क्रान्ति का तरीका कहते हैं[३]।' उनके अनुसार यह तरीका अपनाने पर इंसानियत की जड़ ही कट जाती है। अहिंसक क्रान्ति के समर्थक सशस्त्र क्रान्ति में न तो विश्वास करते हैं और न उसे मानव कल्याण के लिए उपयुक्त ही समझते हैं।

जनतान्त्रिक क्रान्ति

शासन-व्यवस्था में परिवर्तन कानून के माध्यम से भी लाया जा सकता है। मनुष्य का सुख छीननेवाले, उसके अधिकारों को खत्म करनेवाले कानून की जगह मानव सुख और जन-कल्याण के आधार पर नयी शासन-विधि की स्थापना इस क्रान्ति के अन्तर्गत कल्पित है। अहिंसक क्रान्तिकारी यह मानते हैं कि जब तक जनतन्त्र में

---

१. रिफ्लेक्शन्स आन द रिवोल्यूशन आव् आवर टाइम—हेराल्ड जे० लास्की, पृ० १२।

२. क्रान्ति की पुकार—ठाकुरदास बंग, पृ० ३६-३७।

३. क्रान्ति का अगला कदम—दादा धर्माधिकारी, पृ० २०-२१।

जड़ संख्या का महत्त्व रहेगा, कानून के द्वारा क्रान्ति करना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि संख्या और आकार को महत्त्व देने के कारण जनतन्त्र में महत्त्वपूर्ण मानवीय गुणों की उपेक्षा हो जाती है। ऐसे गुण गौण पड़ जाते हैं। ऐसा जनतन्त्र औपचारिक और निर्जीव जनतन्त्र होता है। गुणात्मक जनतन्त्र होने पर ही क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है अन्यथा जड़ और निर्जीव जनतन्त्र क्रान्ति का माध्यम नहीं हो सकता। 'जनतन्त्र की मार्फत क्रान्ति के लिए कानून जरूरी है लेकिन कानून के लिए एक सामाजिक सन्दर्भ और अधिष्ठान की जरूरत होती है[1]।'

अहिंसक क्रान्ति

सौम्य क्रान्ति अहिंसात्मक क्रान्ति भी कही जा सकती है। इसके प्रवर्तक महात्मा गांधी थे। वे महान् क्रान्तिकारी थे। संसारव्यापी संस्कृति और जीवन के किसी भी अंग की जर्जरता के विरुद्ध गांधी प्रस्तुत दिखाई पड़े। उन्होंने माना कि मनुष्य के हृदय में सत-असत् शक्तियों का संघर्ष होता रहता है। यदि मनुष्य असत्य की ओर झुकता है तो वह सत्य की ओर भी झुक सकता है। इस स्वरूप को पा लेने पर मनुष्य आत्मस्थ हो सकता है। तभी उसके द्वारा निर्मित संसार सुन्दर हो सकता है। गांधी की क्रान्ति का मूल आधार यही है। गांधी द्वारा प्रवर्तित अहिंसक क्रान्ति में शस्त्र की अपेक्षा नहीं होती। इसमें विशुद्ध उत्सर्ग आवश्यक है। प्रसन्नतापूर्वक अपने को वलिदान कर देना उनकी क्रान्ति-पद्धति है। आतंक, शक्ति, दमन, अस्त्र-शस्त्र—किसी की परवाह अहिंसक क्रान्तिकारी को नहीं होती। 'युद्ध और संघर्ष तथा क्रान्ति की कल्पना को ही नहीं, प्रत्युत व्यावहारिक रूप से उन सबको रक्तपात, हिंसा और द्वेष के भौतिक तथा पाशविक स्तर से ऊँचा उठाकर पुनीत और मानवीय नैतिक द्वार पर ले जाना अहिंसक क्रान्ति-पद्धति की विशेषता है जो सम्भवतः विश्व के इतिहास में बेजोड़ है[2]।'

महात्मा गांधी के अनुसार क्रान्ति का सूत्रपात केवल बाह्य कारणों से नहीं होता और न उसकी क्रिया बाह्य-जगत में ही घटित होती है। क्रान्ति न केवल भौतिक है और न ही विशुद्ध भौतिक घटनामात्र। उनकी मान्यता है कि असह्य बाह्य परिस्थितियों के अलावा अमूर्त और अदृश्य कारणों के फलस्वरूप भी क्रान्तियाँ होती हैं। मानसिक क्षेत्र में क्रान्ति की भावना उदित होकर मनुष्य की कल्पना और उसके विचारों को प्रभावित करती है। यही भावना कालान्तर में व्यावहारिक रूप ग्रहण कर महान् सक्रियता और प्रचण्ड परिवर्तन में मूर्त होती है।

भौतिक परिस्थिति असह्य न होने पर भी कालक्रम से जीवन की धारणाओं में परिवर्तन आते रहते हैं। इसलिए प्रचलित धारणाओं, मान्यताओं और परम्पराओं के औचित्य की दृष्टि भी बदल जाती है। परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण नये मूल्य उभरते

---

१. वही, पृ० २३।

२. बापू और मानवता—कमलापति शास्त्री, पृ० २८७।

हैं जो जीवन की नयी दिशा दिखाते हैं। परम्परित मान्यताओं और धारणाओं से इनका सामञ्जस्य न हो सकने के कारण तथा परम्परा द्वारा उनका विरोध होने के कारण मनुष्य का हृदय विचलित हो उठता है। उसमें अत्यधिक आक्रोश उत्पन्न होता है। विपरीत परिस्थितियों के फलस्वरूप मनुष्य के मन में विद्रोह की पृष्ठभूमि पर क्रान्ति उत्पन्न होती है। निःसन्देह क्रान्ति-भावना मानसिक होती है, क्योंकि विचार मन में ही उपजते हैं। इस प्रकार 'जीवन के मूल्य का अंकन करनेवाले प्रचलित नैतिक आदर्शों का परिवर्तन और नये आदर्शों की हृदय में स्थापना से ही क्रान्तियाँ होती हैं[1]।'

गांधी ने क्रान्ति के उदय की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार त्रस्त, पददलित, प्रताड़ित मनुष्यों के हृदय को क्रान्तिकारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके मानसिक क्षेत्र में क्रान्ति उत्पन्न की जाय। जीवन के नये मूल्यों और आदर्शों की कल्पना जाग्रत होने से ही मानसिक क्रान्ति की जा सकती है, जिसके लिए मनुष्य के नैतिक मूल्यों को जगाना आवश्यक है। नैतिक मूल्यों की भावना से ही प्रचलित अन्याय और अनीति को अनैतिक समझने का भाव उत्पन्न होगा। अन्याय के विरोध में जन-मानस को उद्बुद्ध करना आवश्यक है, क्योंकि अन्याय और अनीति सहना उचित नहीं। उनके अनुसार 'अन्याय करनेवाले की अपेक्षा वह अधिक पापी और पतित है जो चुपचाप अन्याय के सम्मुख सिर झुका देता है अथवा अन्यायी को सहयोग प्रदान करता है। अन्याय के अस्तित्व का उत्तरदायित्व जितना आततायी पर है, उससे अधिक उनपर है जो उसे सहन कर लेते हैं और बिना प्रतिरोध के उस धारा को अबाध प्रवाहित होने देते हैं[2]।'

मानसिक क्रान्ति

मानसिक क्रान्ति के लिए मनुष्य के चरित्र का विकास आवश्यक है। गांधी यही करना चाहते थे। वे चरित्र-विकास से मनुष्य को इतना ऊँचा, आदर्शमय, त्यागमय और उत्सर्गी बनाना चाहते थे कि अपनी सहिष्णुता, सत्य की दृढ़ता, त्याग, शान्ति आदि के माध्यम से वह आततायी के हृदय का परिवर्तन कर दे। इस प्रकार त्याग, उत्सर्ग और सत्य की भूमि पर खड़े होकर गांधी ने अन्याय, अत्याचार और प्रतारणा का विरोध किया और अहिंसक क्रान्ति के माध्यम से नयी व्यवस्था की स्थापना की। कुछ लोग गांधी की अहिंसक क्रान्ति को शायद सुधार के अन्तर्गत रखना चाहें, लेकिन ऐसा वस्तुगत दृष्टि से न्यायसंगत नहीं होगा, क्योंकि गांधी का लक्ष्य सुधार नहीं था और न छोटे-मोटे सुधारों के कारण उन्होंने कभी अन्यायी अथवा अत्याचारी से समझौता ही किया। उनका लक्ष्य था—परिवर्तन। आततायी के हृदय परिवर्तन के द्वारा जीवन-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था—सब में उन्होंने परिवर्तन किया।

---

१. बापू और मानवता—कमलापति शास्त्री, पृ० २९२।

२. वही, पृ० २९३।

इसलिए उनकी अहिंसक क्रान्ति सुधार नहीं है। उन्होंने क्रान्ति के क्षेत्र में नया प्रयोग किया। उनका यह प्रयोग क्रान्ति के इतिहास में अपनी सफलता के कारण अद्वितीय माना जायगा।

गांधीवादी क्रान्ति

गांधी की क्रान्ति सत्याग्रह और असहयोग के रूप में हुई है। उन्होंने इस आधार पर क्रान्ति कर सजीव, मूर्त और अधिक संवेदनशील समाज-व्यवस्था की स्थापना की। रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से उन्होंने नयी समाज-व्यवस्था कायम की। गांधी ने सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रमों को साथ-साथ चलाया। इस प्रकार संघर्ष और विनाश के साथ संघटन और निर्माण की प्रक्रिया भी होने के कारण उनकी क्रान्ति भावना विशिष्ट हो गयी। संसार की अन्य किसी क्रान्ति में यह प्रक्रिया नहीं अपनायी गयी। वहाँ विनाश और तोड़फोड़ के उपरांत निर्माण क्रिया हुई है। रूस की बोलशेविक क्रान्ति और फ्रांस तथा अमेरिका की क्रान्तियों में भी यही प्रक्रिया दिखाई पड़ती है। लेकिन, गांधी ने इस दृष्टि से क्रान्ति के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग किए। उन्होंने अहिंसा के माध्यम से विचारों में परिवर्तन कर संघर्ष और निर्माण को साथ-साथ चलाया और उसमें वे पूर्णतः सफल हुए। हिंसक क्रान्ति अधिकार-सत्ता और अधिकार-शक्ति को साधन बनाकर रचनात्मक कार्य करती है। गांधी ने अधिकार प्राप्ति तक प्रतीक्षा नहीं की। रचनात्मक कार्यों के माध्यम से निर्माण की सुदृढ़ पृष्ठभूमि उन्होंने क्रान्ति की पूर्णता के पहले ही स्थापित कर ली थी। इसीलिए अहिंसक क्रान्ति के उपरांत अधिकार-सत्ता प्राप्त होने पर व्यवस्था की नयी दिशा में प्रगति हो सकी।

हृदय-परिवर्तन और क्रान्ति

गांधी की प्रगति का रास्ता शान्ति का है। वे हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते हैं। एक ओर वे क्रान्तिकारी के हृदय में नये और पुराने मूल्यों के संघर्ष का भाव नैतिक पृष्ठभूमि पर उत्पन्न करते हैं, तो दूसरी ओर शासक वर्ग का हृदय अपने त्याग, सहिष्णुता आदि से बदल देना चाहते हैं। क्रान्ति के लिए हृदय की मूल भावना बदलने की जरूरत होती है। ऐसी क्रान्ति की सफलता के बाद शासक सत्ता हस्तान्तरित कर देता है। सशस्त्र क्रान्ति में इस तरह के हस्तान्तरण का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि वे अपनी शक्ति से सत्ता ले लेना चाहते हैं। मार्क्स, एंजिल्स और लेनिन हस्तान्तरण शब्द का प्रयोग कहीं नहीं करते। वे 'केप्चर' और 'सीजर' शब्दों का प्रयोग ऐसे अवसर पर करते हैं। शासक के अनेक विरोधों के बावजूद, शासन-यन्त्र बलपूर्वक अपने अधिकार में कर लेना ही 'सीजर' या 'कैप्चर' है। जहाँ क्रान्ति की आग एकाएक धधक उठती है वहाँ हस्तान्तरण की स्थिति नहीं आ सकेगी। वहाँ बल प्रयोग से ही सत्ता हस्तगत की जा सकती है। जो क्रान्ति धीरे-धीरे होगी, उसी में सत्ता का हस्तान्तरण होगा।

किन्तु समाजवादी क्रान्तिकारी ऐसी क्रान्ति को क्रान्ति नहीं कहते। उनके अनुसार

'सुधार की तरह किश्त-किश्त करके क्रान्ति नहीं होती[१]।' वे एकाएक पुरानी व्यवस्था को उलट कर एकदम नयी व्यवस्था कायम कर देते हैं। उनके अनुसार सुधार से क्रान्ति नहीं हो सकती और न ही सुधार क्रान्ति है। सशस्त्र क्रान्तिवादी एक झटके में क्रान्ति करके बल प्रयोग से पुरानी व्यवस्था मिटा देना चाहते हैं। यह झटका हमेशा सफल ही होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए विश्व की अधिकांश सशस्त्र क्रान्तियाँ सफल ही हुई हों, ऐसी बात नहीं है। जब भी पुरानी व्यवस्था से क्रान्तिकारियों की शक्ति कम पड़ी है, वे हार गये हैं और उनकी क्रान्ति असफल हुई है। किन्तु शान्तिपूर्वक ठोस आधार पर रचनात्मक कार्यों की पृष्ठभूमि पर होनेवाली अहिंसक क्रान्ति असफल होगी, इस पर विश्वास नहीं होता, क्योंकि गांधी ने उसका व्यावहारिक रूप भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति में प्रस्तुत किया और वह सफल भी हुई। इतना निश्चित है कि बलप्रयोग द्वारा होनेवाली सशस्त्र क्रान्ति की अपेक्षा अहिंसक क्रान्ति में शक्ति और सहिष्णुता की अपेक्षा अधिक होती है, क्योंकि अहिंसक क्रान्तिकारी का अस्त्र सत्याग्रह और असहयोग है। वह दमन के चक्र में पिसता है। अनेक प्रकार से पीड़ित और प्रताड़ित होता है, किन्तु उसके होठों पर आह नहीं आती। वह अन्त तक दमन को झेलते हुए अन्याय का विरोध करता है। इसलिए उसमें शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के बल की अधिक अपेक्षा होती है।

सुधार और क्रान्ति

सुधार क्रान्ति नहीं है। महात्मा गांधी की अहिंसक क्रान्ति भी सुधार नहीं है। वह क्रान्ति है। सत्याग्रह और असहयोग उसकी प्रक्रियाएँ हैं, जिनके माध्यम से वे अपने लक्ष्य तक पहुँचे। उन्होंने सुधार के कारण अन्याय से कभी समझौता नहीं किया। परवर्ती अध्यायों में राजनीतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत महात्मा गांधी की अहिंसक क्रान्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है, जिसके आधार पर उनके क्रान्ति विषयक प्रयोग और उसकी सफलता का विश्लेषण किया जा सकेगा। उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वक्रान्ति के इतिहास में महात्मा गांधी ने एक अभिनव और सफल प्रयोग किया।

सशस्त्र क्रान्ति

सशस्त्र क्रान्ति की सफलता की सम्भावनाओं पर अनायास ही लोगों का ध्यान जाता है और वे यह मानते हैं कि क्रान्ति में बल-प्रयोग अपेक्षित है। पर अहिंसक क्रान्ति ने विचारकों और मनस्वियों को नयी दिशा में सोचने को मजबूर कर दिया है। हम भी यह सिद्ध करेंगे कि अहिंसक क्रान्ति ही सफल और सच्ची क्रान्ति है।

प्रतिक्रान्ति

सामान्यतः प्रतिक्रान्ति क्रान्ति के विरोध में उत्पन्न क्रान्ति है। प्रतिक्रान्ति पुरातन

---

१. क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा—स्वामी सहजानन्द सरस्वती, पृ० १८।

व्यवस्था के प्रति व्यामोह है। इस सम्बन्ध में लास्की ने अपनी पुस्तक 'रिफ्लेक्शन्स आन द रिवोल्यूशन ऑव आवर टाइम' में लिखा है कि प्रतिक्रान्तिकारी इस तथ्य से अवगत नहीं हैं कि अभिजात्य वर्ग के पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं है। प्रतिक्रान्ति अनुदार भावना का नाम नहीं है। प्रतिक्रान्ति करनेवाले पुरातन प्रेमी इसलिए नहीं होते कि वह पुराना है, वल्कि वे आधुनिक विज्ञान की सभी विधियों और सम्भावित भावनाओं का अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयोग करते हैं। इसके किसी वर्ग के लाभ के लिए किसी देश की सीमाओं का विस्तार नहीं होता।

क्रान्ति-विरोधी

प्रतिक्रान्ति गणतंत्र विरोधी है। गणतंत्र में सुख-सुविधाओं को सर्वजन सुलभ बनाया जाता है। गणतंत्र शान्ति चाहता है और समानता तथा न्याय के आधार पर सारे काम करता है। उसके सारे कार्य संवैधानिक और विवेकपूर्ण होते हैं। इसीलिए समानता के सन्दर्भ में स्वतंत्रता उसका लक्ष्य है। किन्तु प्रतिक्रान्ति युद्धमूलक होती है। विधान और विवेक का पालन उसके अन्तर्गत नहीं होता।

जनसमूह प्रतिक्रान्ति के सिद्धान्त के सामने नहीं झुकता। हर युग में ऐसे मनुष्य हुए हैं, जिन्होंने प्रतिक्रान्ति के सामने झुकने के पहले स्वयं को खत्म कर दिया। जब ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जनता को अपने अधिकार में कर लेती हैं, तब प्रतिक्रान्ति आती है। जब आशाएँ टूटती हैं और उनकी असफलता की अनुभूति बहुत गहरी होने लगती है तो परम्परित राजनीतिक संस्थाओं के प्रति आदर की भावना संयुक्त होकर प्रतिक्रान्ति को जन्म देती है। जहाँ क्रान्ति के माध्यम से किये गये परिवर्तन के बावजूद प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ शेष रह जाती हैं, वहाँ प्रतिक्रान्ति की सम्भावना होती है। प्रतिक्रियात्मक शक्तियाँ क्रान्ति का प्रभाव तथा उसके फलस्वरूप स्थापित नयी व्यवस्था का प्रभाव कम होते ही सिर उठाने लगती हैं। यथावसर ये नवस्थापित व्यवस्था के विरोध में प्रतिक्रान्ति करती हैं तथा पुनः पूर्वस्थापित व्यवस्था की तरह कोई व्यवस्था कायम करती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिक्रान्ति के द्वारा पूर्व परम्परा की स्थापना ही हो। उसके द्वारा उसके जैसी ही कोई व्यवस्था कायम हो जाती है।

क्रान्ति मानवतावादी तथा जनतान्त्रिक चेतना की क्रिया है जबकि प्रतिक्रान्ति में सम्पूर्ण मानवता के लाभ का कोई प्रश्न नहीं रहता। एक वर्ग-विशेष का लाभ ही प्रतिक्रान्ति का मूल लक्ष्य होता है।

प्रतिक्रान्ति प्रतिक्रियावादी

प्रतिक्रान्ति एक हद तक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति है। क्योंकि इसके द्वारा जो व्यवस्था स्थापित होती है उसमें सर्वजन मंगल का लक्ष्य अथवा सम्पूर्ण मानवता की सुख-सुविधा की रुचि न होने के कारण इस चेतना का प्रतिक्रियावाद से निकट का स्वाभाविक सम्पर्क है।

विनोबा भावे तथा महात्मा गांधी ने अहिंसक क्रान्ति पर बल दिया और इसके

माध्यम से समाज, अर्थ तथा राज-व्यवस्था में परिवर्तन किये। अहिंसा के समर्थक ये क्रान्तिवादी मानते हैं कि अब क्रान्ति की वह नयी प्रणाली अपनायी जानी चाहिये, जिसके फलस्वरूप क्रान्ति द्वारा हुए परिवर्तन स्थायी हों। तात्पर्य की प्रतिक्रान्ति की सम्भावनाओं को ये अहिंसक क्रान्तिवादी खत्म कर देना चाहते हैं। इसके लिए वे अहिंसक क्रान्ति का समाधान उपस्थित करते हैं, जो तलवार पर नहीं, त्याग पर, बल पर नहीं, आत्मबल पर अधिक जोर देती है। उनका कहना है कि शस्त्र द्वारा की जानेवाली क्रान्ति की प्रतिक्रिया प्रतिक्रान्ति में अवश्य होगी। इसलिए ये विचारक अहिंसक क्रान्ति के माध्यम से स्थायी परिवर्तन कर प्रतिक्रान्ति की सम्भावनाओं को समाप्त कर देना चाहते हैं।

स्थापनाएँ

क्रान्ति : प्रयोग की एक दिशा

क्रान्ति प्रयोग की एक दिशा है। वर्तमान अकल्याणकारी व्यवस्था के स्थान पर मनुष्य के सुख के लिए नयी व्यवस्था की स्थापना अपने-आप में एक प्रयोग है। पुरानी व्यवस्था के जड़ कुण्ठित और अन्यायपूर्ण हो जाने के कारण मनुष्य दुखी है, ऐसा मानकर अधिक सुख, सुविधा तथा कल्याण के लिए नयी व्यवस्था की स्थापना क्रान्ति के माध्यम से की जाती है। अनागत सम्भावनाओं की जानकारी किसी को नहीं होती। कल्याण की आशा ही नवीन स्थापना की, उसके प्रयोग की प्रेरणा देती है। कभी-कभी क्रान्तिकारियों की आशा पर पानी फिर जाता है। उन्हें उतना सुख, उतनी सुविधा नहीं मिल पाती, जितने की आशा थी। ऐसी दशा में नयी व्यवस्था की स्थापना के लिए क्रान्ति करने का प्रयत्न प्रयोगमूलक ही कहा जायगा। रूस, अमेरिका, चीन, भारत—सर्वत्र, क्रान्ति के उपरान्त नयी व्यवस्था का प्रयोग आरम्भ हुआ है।

आधुनिक युग का अवदान

क्रान्ति और क्रान्ति के प्रयोग को आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण अवदान माना जायगा, क्योंकि मध्ययुग में ऐसे प्रयोग नहीं हुए। वस्तुतः मध्ययुगीन प्रवृत्ति में क्रान्ति, परिवर्तन आदि का स्थान नहीं था, क्योंकि नवीनता के प्रति उनमें आग्रह नहीं था। उस युग में यह शंका बनी रहती थी कि नवीन व्यवस्था वर्तमान से उत्तम न भी हो। परिवर्तन या क्रान्ति के प्रति यह उदासीनता प्रयोग के प्रति उदासीनता है। यों वैचारिक या धार्मिक क्रान्तियाँ मध्ययुग या उसके पहले भी हुई हैं, किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मध्ययुग की प्रकृति में प्रयोग का भाव है। यह भाव १८वीं शताब्दी की उपज है। इसके बाद ही विश्व में अनेक राज्यक्रान्तियाँ हुईं और उनके माध्यम से शासन व्यवस्था या समाज व्यवस्था को नया व्यावहारिक रूप मिला।

सक्रान्ति : एक ज्वर

मानव-रोगविज्ञान शास्त्र के अनुसार क्रान्ति एक ज्वर है। यह एक संकट का काल है। मनोविज्ञान की दृष्टि से क्रान्ति सार्वजनिक मोह, धार्मिक भावुकता, रूढ़िबद्धता, दलों का दबाव और वैयक्तिक असमायोजन प्रकट करती है। राजनीतिक शब्दावली में, 'क्रान्ति आघातों का एक समूह है। आघात के फलस्वरूप शासनसत्ता दक्षिणपंथी से वामपंथी, बड़े दल से छोटे दल, जो अधिक आग्रही है, के हाथ में चली जाती है[1]।'

युगसापेक्षिक माध्यम

प्रत्येक युग की कुछ आवश्यकताएँ, आशाएँ तथा कल्पनाएँ होती हैं। जब वे वर्तमान व्यवस्था में पूर्ण नहीं होतीं, तो उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। मनुष्य अपनी कल्पनाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करता है, किन्तु शासक वर्ग वर्तमान में जीता है। शासकों को जनता के सुनहले सपने प्रिय नहीं होते। इसलिए वह सपनों का विरोध करता है। इस विरोध की प्रतिक्रिया क्रान्ति के माध्यम से प्रकट होती है। पतित, पीड़ित तथा दमित जाति के उद्धार, विकास तथा प्रगति का मार्ग क्रान्ति है। इस माध्यम से ही यह वर्ग उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है।

संत जस्ट ने कहा,—'प्रत्येक मनुष्य की प्रसन्नता किसी दूसरे स्वर्ग में नहीं, बल्कि यहीं और अभी इसी धरती पर प्राप्य है। यदि सामान्य जनता की प्रसन्नता के मार्ग में प्राचीन आदतें, विश्वास और संस्थाएँ बाधक होंगी तो उन्हें दूर करना ही होगा[2]।' संसार के सभी कार्यों में मानव-हित का ध्यान रखा जाता है क्रान्ति का मूल उद्देश्य भी मनुष्य ही है। जहाँ मनुष्य पीड़ित है, शोषित है, दमित है, वहाँ मानवता के हित के लिए क्रान्ति फूटती है। नयी व्यवस्था की स्थापना क्रान्ति का ध्येय है जिसमें मनुष्य के सुख की असंख्य कल्पनाएँ और आशाएँ होती हैं।

क्रान्ति : मानव प्रकृति

क्रान्ति मनुष्य की प्रकृति है। वह एक खास स्थिति में बहुत दिनों तक नहीं जी सकता। जगत और जीवन परिवर्तनशील है। इसलिए जगत और जीवन से सम्बद्ध मनुष्य भी परिवर्तन में रुचि लेता है।

हर व्यवस्था, चाहे वह जितनी अच्छी हो, अपने गुणों को स्थायित्व नहीं दे पाती। क्रमशः अच्छी व्यवस्था भी विकृत और दोषपूर्ण हो जाती है। व्यवस्था के सूत्रधार व्यक्तिगत स्वार्थ, रुचि तथा अधिकार-मोह के कारण सुविधाओं और सुखों को जब अपने तक सीमित करने लगते हैं, तो सामान्य जनता के अधिकार और सुख कम होने लगते हैं। रूढ़ियाँ आती हैं और व्यवस्थाओं को जड़ तथा निष्प्राण करने लगती हैं।

---

१. ए डिकेड आव् रिवोल्यूशन—क्रेन ब्रिंटन, पृ० १

२. एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज, खण्ड १, पृ० १२५।

ऐसी अवस्था में सामान्य जनता के मन में नवीन व्यवस्था की कल्पना स्वाभाविक रूप से आती है। ज्यों-ज्यों सुख-सुविधाओं के लिए जनता की ओर से माँग होती है, व्यवस्था के कर्णधार माँग का विरोध करते हैं। वे जनता के अधिकारों को खत्म कर स्वयं सब कुछ बने रहना चाहते हैं और सारे सुखों को अपने तक सीमित रखने की दिशा में आगे बढ़ते जाते हैं। इसी स्थिति में दमन और तेज होने लगता है। दमन की तीव्रता कुछ काल के लिए विरोध को भले दबा दे, क्रान्ति के विस्फोट को वह सदा के लिए नहीं दबा पाती, क्योंकि दमन से क्रान्ति की संभावना तथा संघटना अधिक निकट और तीव्र हो जाती है। इस प्रकार क्रान्ति जीवन की अनिवार्यता है, मनुष्य तथा उसके द्वारा निर्मित संस्थाओं के सम्बन्ध की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

विनाश-निर्माण का सेतु

क्रान्ति के माध्यम से वर्तमान के स्थान पर नवीन की स्थापना के द्वारा परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन में एक ओर पुरातन के विनाश का व्याकुल भाव रहता है, तो दूसरी ओर नवीन के निर्माण की योजना तथा संकल्प भी निहित होता है। नये की स्थापना के बिना क्रान्ति अधूरी है। पुरातन के विनाश की भावना उसके प्रति आक्रोश के कारण उत्पन्न होती है, जो स्वाभाविक है। किन्तु पुरातन के विनाश का दूसरा पहलू नवीन का निर्माण है। यदि नवीन का निर्माण न हो तो क्रान्ति का उद्देश्य ही अधूरा रह जायगा। ऐसी क्रान्ति विध्वंसात्मक होगी, जो दंगल में विश्वास करती है, मंगल में नहीं। हर क्रान्ति का उद्देश्य मानव-हित होता है, क्योंकि क्रान्ति की मूल प्रेरणा मानवीय संवेदना है। क्रान्ति का प्रवर्तन विनाश के लिए नहीं, अपितु निर्माण के लिए होता है। पुरानी व्यवस्था क्रान्ति के द्वारा इसलिए नहीं मिटायी जाती कि मत्स्य न्याय की व्यवस्था जनता को प्रिय है और अब किसी व्यवस्था की अपेक्षा नहीं है, बल्कि इसलिए की जाती है कि सामान्य जनता के अधिक सुख, अधिक सुविधा के लिए नयी व्यवस्था की जाय। इसी दृष्टि से क्रान्ति का परिवर्तन घटित होता है।

क्रान्ति और मानवता

क्रान्ति की मूल दृष्टि मानवीय होती है। क्रान्ति का लक्ष्य ही मानव-कल्याण है। मानव-कल्याण क्रान्ति का निमित्त है। यदि इस लक्ष्य की पूर्ति न हो तो क्रान्ति विकृत हो जायगी। लक्ष्यच्युत न होने के कारण ही जब-जब मानवता गहरे संकटों के आवर्त में घिर जाती है, क्रान्ति फूटती है। मनुष्य को सुख, अधिकार तथा उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए नवीन व्यवस्था पुरानी व्यवस्था के खण्डहर पर खड़ी की जाती है।

क्रान्ति और मानव मन

क्रान्ति का उद्गम मन में होता है। मन वर्तमान रूढ़िवादिता, अन्याय, अत्याचार तथा अपमान के प्रति प्रतिक्रियात्मक हो उठता है। जब तक मन में परिवर्तन का भाव पैदा नहीं होगा, क्रान्ति नहीं होगी। इसलिए क्रान्ति को असंतोष और तज्जनित विरोध भाव की क्रिया प्रतिक्रिया कहा जा सकता है। असंतोष और विरोध भावगत

हैं, इसलिए मानसिक हैं। मन ही असंतुष्ट तथा विरोधी होता है। अतः क्रान्ति वैचारिक चेतना है। मन की स्थिति का उद्बोध विचारों से होता है। इसलिए मानसिक क्रान्ति कालक्रम से वैचारिक क्रान्ति में परिवर्तित हो जाती है।

बहुधा रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और परम्पराओं से विचार की प्रक्रिया कुण्ठित हो जाती है और उससे मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। फलस्वरूप समाज में विभिन्न प्रकार के दोष जन्मते हैं, और जनवर्ग परम्परा को अनिवार्य मान लेता है। सुधार की प्रेरणा भी मर जाती है। विचारों में परिवर्तन की भावना आने पर और उसका सक्रिय क्रान्ति में प्रतिफल न होने पर ही दमन, उत्पीड़न, अवमानना समाप्त होती है। इस दृष्टि से भी यह सिद्ध है कि क्रान्ति का उद्गमस्थान मन है।

क्रान्ति का मूल उद्देश्य जनता का कल्याण है। अतः अधिकाधिक कल्याण की दृष्टि से ही शासन-व्यवस्था में परिवर्तन किया जाता है। इस शासन-व्यवस्था में जब क्रान्ति द्वारा परिवर्तन होता है, तब जनतांत्रिक शासन स्थापित होता है। सैनिक-क्रान्ति से सैनिक-शासन लागू हो सकता है, किन्तु जन-क्रान्ति द्वारा जनतन्त्र ही स्थापित किया जाता है। अधिनायकवाद भी सैनिक क्रान्ति के बाद आता है।

क्रान्ति, देशकाल सापेक्ष

क्रान्ति देश-काल सापेक्ष है। विश्व में एक साथ क्रान्ति होना सम्भव नहीं है। सर्वदा क्रान्ति की स्थिति झेली भी नहीं जा सकती। भावनाओं का विकास शान्तिकाल में होता है। क्रान्ति का ध्वंसात्मक पक्ष अशान्ति और संक्रमण का काल है, जिसमें मूल्य एवं मान अनिश्चित होते हैं। अनिश्चय की इस स्थिति में मानवता फूल फल नहीं पाती। अतः ध्वंस की संक्रान्ति के बाद निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है ताकि अधिक सुख, सुविधाओं के द्वारा मानवता की विविध चेतनाओं का सम्यक् विकास हो।

क्रान्ति मूलतः राष्ट्रीय भावना

क्रान्ति-भावना मूलतः राष्ट्रीय भावना है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक, हर क्रान्ति राष्ट्रीय स्तर पर प्रारम्भ होती है। उसका उद्भव ही जातीय तथा राष्ट्रीय भावना के कारण होता है। राष्ट्र और राष्ट्र के निवासियों के हित को ध्यान में रखकर वैचारिक क्रान्ति उद्भूत होती है। इसका पर्यवसान अन्य प्रकार की क्रान्तियों में होता है किन्तु सामाजिक परिवेश, धार्मिक मान्यताओं, देशगत परिस्थितियों आदि का प्रभाव क्रान्ति तथा राष्ट्रीय क्रान्ति पर पड़ता है। विशेषतः राजनीतिक, राष्ट्रीय और सामाजिक क्रान्तियाँ एक देश तथा जाति से सम्बन्धित होती हैं। अतः वह सार्वदेशिक चेतना नहीं है, एक राष्ट्रीय भावना है।

प्रश्न उठता है कि इसका कारण क्या है? कारण यह है कि एक जाति अथवा देश की सीमा में घिरी मानवता की अपनी समस्याएँ होती हैं। समस्याएँ निराकरण माँगती हैं। पर एक जाति जिसे समस्या कहती है, दूसरी उसे सामान्य स्थिति मान

सकती है इसलिए उसमें असन्तोष तथा उसके विरोध का भाव नहीं उत्पन्न होता। संस्कार, परम्परा तथा समस्याएँ एक होने के कारण ही क्रान्ति की भावना उस एक जाति, वर्ग अथवा देश में उदित होती है। सम्भव है, भविष्य में समस्याएँ एक होने से जाति तथा देश की सीमाएँ विस्तृत हो सकें। पूर्व घटित क्रान्ति प्रेरणा स्रोत हो सकती है और उसकी प्रेरणा से अन्य काल में अन्य देश तथा जाति में वैसी ही क्रान्ति का उद्‌भव अति स्वाभाविक है। फ्रांसीसी क्रान्ति ने अनेक देशों में राज्यक्रान्ति की प्रेरणा दी। औद्योगिक क्रान्ति ने सामन्ती प्रथा को मिटा कर पूँजीवाद स्थापित किया। रूस की क्रान्ति ने जारशाही के स्थान पर साम्यवादी पृष्ठभूमि पर मजदूरों का अधिनायकवाद प्रतिष्ठित किया। ये सभी क्रान्तियाँ राष्ट्रीय सीमा के अन्तर्गत एक विशेष राष्ट्र की मानवता के विकास के लिए हुई थीं। अतः क्रान्ति में राष्ट्रीय चेतना का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भय : क्रान्ति की जननी

हेराल्ड जे० लास्की ने भय को क्रान्ति की जननी मानकर क्रान्ति का विश्लेषण किया है।[1] भयभीत मनुष्य की तर्क शक्ति खत्म हो जाती है। जब जनता क्रूर, अत्याचारी शासक का विरोध करती है, शासक अधिक क्रूर, अधिक दमनकारी हो जाता है। उसमें यह भय आ जाता है कि यदि क्रान्तिकारियों को बढ़ने दिया गया तो उसके अधिकार खत्म हो जायँगे। इसलिए वह तर्कहीन तथा अविवेकी होकर खूँखार ढंग से दमन करता है। पर दमन क्रान्ति को रोक नहीं पाता। दमन के साथ क्रान्ति भी अधिक तीव्र होती जाती है। यदि शासन को अपने सुखों, अधिकारों या राज्य के खत्म हो जाने का भय न हो तो क्रान्ति की स्थिति ही उत्पन्न नहीं हो, क्योंकि ऐसी दशामें जनता को अपने अधिकार मिल जायँ अथवा सुधार हो जायँ तो क्रान्ति का प्रश्न ही पैदा नहीं हो। क्रान्तिमूलक विरोध भावना ही समाप्त हो जावे। अतः क्रान्ति शासकवर्ग में उत्पन्न भय के कारण पैदा होती है।

क्रान्ति का दूत मध्यवर्ग

क्रान्ति का अग्रदूत मध्यवर्ग होता है। यों मध्यवर्ग की कुछ सीमाएँ होती हैं। यह वर्ग परम्पराओं में विश्वास करता है। इसलिए नवीनता का आग्रह उसमें नहीं रहता। नवीनता से वह डरता भी है। पूर्वजों के आदर्श उसे भाते हैं और उन्हीं के सुनहले जाल में वह उलझा रहता है। उन आदर्शों पर कुठाराघात मध्यवर्ग में विद्रोह जगा देता है। वह यह महसूस तो करता है कि व्यवस्था में कुछ दोष है, लेकिन भाग्य पर अधिक विश्वास करने के कारण वह विषम स्थितियों से समझौता कर लेता है। इच्छित व्यवस्था को स्थापित करने का साहस मध्यवर्ग में नहीं है। वह सुधारों से प्रसन्न होता है, किन्तु जब निरंकुश शासक सुधार नहीं करता अथवा उन सुधारों से सामाजिक व्यवस्था नहीं सुधरती, तो मध्यवर्ग सशस्त्र क्रान्ति के लिए भी प्रस्तुत होता है। रूस

---

१. रिफ्लेक्शन्स ऑन द रिवोल्यूशन ऑव् अवर टाइम—लास्की, पृ० ३४।

तथा चीन को छोड़कर शेष क्रान्तियों के अगुआ मध्यवर्गीय व्यक्ति रहे हैं। उन्होंने व्यवस्था के दोषों का विश्लेषण और परिस्थिति के अनुरूप जन-जीवन को तैयार कर जर्जर व्यवस्था को तोड़ा और नयी व्यवस्था कायम की। रूसी क्रान्ति में भी मध्यवर्ग का कितना हाथ रहा, यह खोज का विषय है। उच्चवर्ग अपने अभिजात्य को कायम रखना चाहता है। वह सत्ताधारी होता है। उसके विद्रोह करने का सवाल ही पैदा नहीं होता। मजदूर वर्ग न तो बौद्धिक होता है, न ही उसे क्रान्ति सम्बन्धी सक्रियता के लिए फुर्सत होती है। वह अपनी वैयक्तिक समस्याओं में उलझा रहता है। वैसे अब निम्न वर्ग भी इतना बौद्धिक, सचेत, जाग्रत, वर्ग-चेतना से अभिभूत हो उठा है कि यह मान्यता किसी भी क्षण खण्डित हो सकती है।

भारतीय राष्ट्रीय क्रान्ति

भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति से स्पष्ट लक्षित होता है कि मध्यवर्ग ही क्रान्ति का प्रणेता है। इस वर्ग के सहयोग से ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रियता, तीव्रता तथा शक्ति आयी। इसमें निम्नवर्ग का भी सहयोग था, किन्तु मध्यवर्ग के निर्देश में ही निम्नवर्ग ने क्रान्ति के आन्दोलनात्मक कार्यक्रमों को गति दी। भारतीय उच्चवर्ग, जिसमें राजाओं, सामन्तों तथा बड़े पूँजीपतियों की गणना की जायगी, क्रान्ति से अछूता रहा। साधन-सम्पन्नों के सामने कोई समस्या नहीं थी। अतः असन्तोष भी नहीं था। फ्रांसीसी क्रान्ति की तरह भारतीय राष्ट्रीय क्रान्ति के उपरान्त मध्यवर्ग का शासन स्थापित हुआ। अब भी भारत में निम्न अथवा मजदूर-किसान वर्ग का शासन नहीं है। दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग का प्रभाव प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से शासन तथा अन्य व्यवस्थाओं पर हो सकता है, किन्तु शासन-व्यवस्था में उनकी निर्णायक भूमिका नहीं है।

सामाजिक हित में क्रान्ति

क्रान्ति का लक्ष्य सार्वजनिक हित है, अतः सम्पत्ति और उसके साधनों पर जनता का अधिकार होना चाहिये, किन्तु ऐसा हो नहीं पाता। साम्यवादी देशों के अतिरिक्त जनता सम्पत्ति की अधिकारिणी नहीं हो पाती। फिर भी क्रान्ति जन-जीवन के आर्थिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाती है। जिन देशों में पूँजीवाद क्रान्ति के द्वारा नहीं मिटाया गया, वहाँ कालक्रमेण आर्थिक क्रान्ति आती है और उसकी संघटना से जन-जीवन में व्याप्त असमानता दूर होती है।

भारत में अहिंसक क्रान्ति का सफल प्रयोग महात्मा गांधी के निर्देश में हुआ है। राज्य-परिवर्तन के लिए अब तक सशस्त्र और खूनी क्रान्तियाँ ही हुई हैं। महात्मा गांधी ने क्रान्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन उपस्थित किया। उन्होंने अहिंसक क्रान्ति का प्रयोग किया और उसे सफल बनाया। इसलिए सशस्त्र क्रान्ति ही सच्ची क्रान्ति है, ऐसा कहना उचित नहीं है।

महात्मा गांधी के शिष्य विनोबा भावे ने आर्थिक क्रान्ति की दशा में भू-दान यज्ञ का प्रवर्तन किया है। विनोबा सशस्त्र क्रान्ति को क्रान्ति नहीं मानते। उनके अनुसार

विचारों में क्रान्ति लाने से ही क्रान्ति स्थायी होगी। एक हद तक यह मान्यता उचित लगती है, क्योंकि तलवार की क्रान्ति से प्रतिक्रान्ति की सम्भावना रहेगी। इस दृष्टि से तो सही क्रान्ति अहिंसक क्रान्ति ही ठहरती है। किन्तु इस प्रकार क्रान्ति की सीमा को संकुचित करना उचित नहीं। सशस्त्र और अहिंसक दोनों ही क्रान्तियाँ युगबोध की दृष्टि से उचित और महत्त्वपूर्ण होती हैं। परिवर्तन ही क्रान्ति है और इस परिवर्तन के लिए अस्त्र और आन्दोलन दोनों साधन अपनाये जा सकते हैं।

———

पृष्ठाधार और युगप्रवाह

जीवन विविध क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का समुच्चय है। मनुष्य अधिक सजग, सचेत और सक्रिय प्राणी है, अतः उसका जीवन वैभिन्यपूर्ण है। घटनाओं से संघर्ष करता हुआ वह जीवित रहता है और अपनी अदम्य जिजीविषा का परिचय देता है। जीने की यह प्रेरणा ही उसमें घटनाओं की प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। इस प्रकार परिस्थितियों ने जन-मानस को आन्दोलित करके हर क्षेत्र में नये सिरे से सोचने-समझने की प्रेरणा दी। युग-बोध की अभिव्यक्ति साहित्य में विशेष रूप से होती आयी है। परिस्थितियों की प्रतिक्रिया ने साहित्य को परम्परा से टूट कर प्रयोग करने की चेतना दी है। अतः हम यहाँ क्रान्ति-भावना की साहित्य में अभिव्यक्ति का सम्यक् और सांगोपांग विवेचन करेंगे।

साहित्य और युगबोध

साहित्य प्रत्यक्षतः युगबोध से कटा प्रतीत होने पर भी अप्रत्यक्षतः उससे प्रतिबद्ध होता है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य भी युगबोध की छाया लिये है। उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य का विश्लेषण करते हुए डाक्टर रामकुमार वर्मा ने लिखा है—'युगबोध का प्रत्यक्षीकरण उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्य में पद-पद पर होता है और साहित्य किसी वेगवती नदी का ऐसा तट बन जाता है जिससे विषम परिस्थितियों की तरंगें क्षण-क्षण में आकर बड़े वेग से टकराती हैं'[१]। आधुनिक साहित्य भी युगबोध की प्रतिच्छाया है।

क्रान्ति काव्य की प्रेरक

क्रान्ति भावना परिस्थितियों की प्रतिक्रिया है। इसलिए आधुनिक हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्त क्रान्ति-चेतना का मूल्याङ्कन प्रस्तुत करने के पूर्व उसकी प्रेरक परिस्थितियों पर विचार कर लेना उचित होगा, क्योंकि इन परिस्थितियों ने ही क्रान्ति भावना को प्रेरणा दी। इस प्रेरणा से जीवन-जगत और साहित्य भी आन्दोलित हुआ है।

राजनीतिक पृष्ठाधार

क्रान्ति की अनेक प्रेरक परिस्थितियों में राजनीतिक परिस्थितियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। राजनीतिक जीवन की एक महत्त्वपूर्ण दिशा है, और इससे समाज अर्थ, धर्म सभी प्रभावित हुए हैं। हिन्दी काव्य में घटित जिस क्रान्ति-भाव की चर्चा यहाँ

---

१. उन्नीसवीं शताब्दी की पृष्ठभूमि—रामकुमार वर्मा।

प्रस्तुत होगी, वह मूल रूप से विरोधमूलक है। विदेशी शासन के दमन, अत्याचार, अपमान आदि ने जीवन को झकझोर दिया था। शासनतन्त्र और राजनीतिक रूप से परतन्त्र जीवन ने हर क्षेत्र में नये सिरे से सोचने के लिए मानसिक प्रेरणा दी। इन राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन प्रस्तुत है।

राणा प्रताप की विरोध भावना

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारतवर्ष के शासक मुगल थे। बाबर से शाहजहाँ के शासन-काल तक क्रान्ति को उद्भूत करनेवाली कोई विशेष राजनीतिक घटना नहीं हुई। हाँ, राणा प्रताप ने मेवाड़ की स्वतन्त्रता तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अकबर से लोहा लिया, किन्तु अकबर की समन्वयवादी और शान्तिपूर्ण नीति के कारण क्रान्ति-भावना को प्रश्रय नहीं मिल पाया। राणा प्रताप की विरोध भावना एक क्षेत्र विशेष की स्वतन्त्रता से पूर्ण है, किन्तु उसमें जन-जीवन का सहयोग कितना था, यह कहना कठिन है। निश्चय ही अकबर की विस्तारवादी नीति को राणा प्रताप की स्वतन्त्रतापरक राष्ट्रीय क्रान्ति भावना अवश्य एक धक्का देती है। अत्याचार और अपमान की व्यापक परिस्थिति न होने के कारण व्यापक तथा तीव्र क्रान्ति भावना इस काल में नही जग सकी।

औरंगजेब की निरंकुशता

औरंगजेब की निरंकुशता ने भारतीय जीवन को क्रान्तिमूलक बनाया। औरंगजेब ने हिन्दुओं के नैतिक और धार्मिक विश्वासों को कुचलने की चेष्टा की। उसका राज्यकाल मुगल साम्राज्य के इतिहास का अशान्त काल है। प्रायः जमींदारों, राजाओं तथा हिन्दुओं के अनेक धार्मिक उपद्रव उस काल में हुए। औरंगजेब का अधिक समय और श्रम इन विद्रोहों को दबाने में बीत गया। 'सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद के सूबों में हुए। आगरा प्रान्त में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने, अवध में बैस राजपूतों ने और इलाहाबाद में हरदी तथा अन्य जमींदारों ने शासन की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया[१]।' मथुरा में केशवदास तथा काशी में विश्वनाथ के मन्दिर तोड़ने और हिन्दुओं का विरोध करनेवाले औरंगजेब के अत्याचार और अन्याय से हिन्दू बौखला उठे। बुन्देलखण्ड के चम्पतराय और उनके पुत्र छत्रसाल ने आजन्म औरंगजेब का विरोध किया। महाराज जसवन्त सिंह के मरने के बाद उनके राज्य को हड़पने के कारण मेवाड और मारवाड़ उसके विरुद्ध हो गये। गुरु तेगबहादुर की हत्या और गुरु गोविन्द सिंह के पुत्रों पर किये गये अत्याचार से औरंगजेब के विरोध में सिखों में सैनिक शक्ति संघटित हुई। उसकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण दक्षिण में शिवाजी के नेतृत्व में मराठे शासन के प्रति विद्रोही हो गये।

'औरंगजेब की हिन्दू राजपूत विरोधी नीति, राजधानी में शासनसत्ता का अत्यधिक

---

१. रीति काव्य की भूमिका—डाक्टर नगेन्द्र, पृ० २।

केन्द्रीकरण और राजकीय आय का आलीशान इमारतें बनाने में अन्धाधुन्ध व्यय, सुदूर स्थित सूबेदारों और आश्रितों या राजाओं और नवाबों पर नियन्त्रण का अभाव, यातायात के साधनों की ओर ध्यान न देना, रईसों तथा कुलीनों और धर्म की अधोगति, पुलिस एवं निष्पक्ष तथा शक्तिशाली न्यायाधीशों का अभाव, असहिष्णुता, अविश्वास, दूसरे का राज्य हड़प लेने की प्रवृत्ति और फलतः निरर्थक युद्धों में राजकीय आय का विनाश और तज्जनित सैनिक तथा आर्थिक शक्ति का ह्रास आदि कुछ बातें ऐसी थीं, जिन्हें औरंगजेब अपने उत्तराधिकारियों के लिए छोड़ गया था और जिनके फलस्वरूप साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था[1]।' इन कारणों से औरंगजेब की मृत्यु के बाद अव्यवस्था और अराजकता फैल गयी। औरंगजेब के उत्तराधिकारी राजनीतिक दृष्टि से कमजोर थे। मुहम्मदशाह के राज्यकाल में निजाम, रुहेलों, सिखों, मरहठों, नादिरशाह और उसके उत्तराधिकारी अहमदशाह अब्दाली ने भयंकर उत्पात मचाये। इस कारण अत्याचार और असन्तोष बढ़ गया। मुगल शासन की कमजोरी के कारण ही भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रभाव और शासन धीरे-धीरे बढ़ने लगा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का आगमन

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना सन् १५९९ में हुई थी। उसे ३१ दिसम्बर १६०० ई० में रानी एलिजाबेथ से अधिकार-पत्र मिला। इस अधिकार-पत्र के द्वारा व्यापारियों की इस कम्पनी को सुदूरपूर्व में व्यापार करने का एकाधिपत्य मिला। इसी सम्बन्ध में मुगल सम्राटों के राजत्वकाल में अनेक अंग्रेज तथा अन्य व्यापारी भारत में आते रहे। व्यापारिक प्रतियोगिता के फलस्वरूप अंग्रेजों को भारतीय राजनीति में भी सक्रिय भाग लेना पड़ा और कम्पनी की व्यापारिक तथा राजनीतिक स्थिति में समय-समय पर उतार-चढ़ाव आये।

इस काल में राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र बंगाल था। अलीवर्दी खाँ के मरने पर ज्यों ही बंगाल का शासक सिराजुद्दौला हुआ, उसे अंग्रेजों से टकराना पड़ा, जिसके फलस्वरूप ब्लैक होल की कल्पित घटना का होना बताया जाता है।

१७५७ में क्लाइव ने सिराजुद्दौला को हटाकर बंगाल पर अधिकार जमाया। इसी वर्ष भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव पड़ी धीरे-धीरे अंग्रेजों ने राजनीतिक और आर्थिक षड्यन्त्रों के माध्यम से बिहार और बंगाल के कई नवाबों को अपने अधिकार में कर लिया। इस काल में सम्पूर्ण हिन्दी प्रदेश अवसरवादिता, अतिव्यय, गृह-कलह, रक्तपात, लूट-मार आदि से पीड़ित था। जन-जीवन में किसी सर्वमान्य राजनीतिक चेतना का अभाव था। क्रमशः अंग्रेजों ने भारत के पश्चिमी भागों को भी अपने कब्जे में करना प्रारम्भ किया। अनेक लड़ाइयों में उन्होंने टूटे हुए सामन्तों और नवाबों को पराजित किया।

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ३३-३४।

१७६५ ई० में क्लाइव जब दुबारा बंगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ, ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापारिक चोला उतार राजनीतिक सत्ता के रूप में देश के सामने आयी। क्लाइव की चेष्टा से बंगाल, बिहार और उडीसा की दीवानी ईस्ट इण्डिया कम्पनी को मिली। इसके फलस्वरूप आर्थिक व्यवस्था अंग्रेजों के हाथ में और राजनीतिक व्यवस्था नवाब के हाथ में थी। इस तरह इस क्षेत्र में द्वैध शासन की कष्टपूर्ण स्थिति आयी। १२ अगस्त सन् १७६५ को शाह आलम ने फरमान द्वारा अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी बख्शी थी और वस्तुतः उस दिन से व्यावहारिक दृष्टि से कोई मुगल सम्राट् नहीं रह गया था, क्योंकि सिपाहियों की संख्या और मन्त्रियों की नियुक्ति तक में उसे अंग्रेजों की स्वीकृति लेनी पड़ती थी।

अंग्रेजों की मनमानी

अंग्रेजों के हाथ में अधिकार आने से उन्होंने मनमानी आरम्भ कर दी थी। भूमि-कर बढ़ा दिया। सन् १७७० में बंगाल के भयंकर अकाल के बावजूद भूमि-कर में पुनः वृद्धि हुई। कृषि-उन्नति की भी उपेक्षा हुई। सन् १८५७ के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी मौलाना फजलहक खैराबादी ने क्रान्ति का दूसरा मुख्य कारण आर्थिक संकट बताया है[१]।

वैसे इस बीच शाह आलम दिल्ली आनेकी कोशिश करता रहा। अंग्रेज तो किसी प्रकार भी सहायता देने के लिए तैयार नहीं थे अतः सम्राट् को मरहठों का आसरा था। ७ फरवरी को उन्होंने शाह आलम को सम्राट् घोषित किया। शाह आलम दिल्ली में आया। पर वास्तविक शक्ति मरहठों के हाथ में थी। सन् १७८८ में नाजिब खाँ के पौत्र गुलाम कादिर खाँ ने दिल्ली पर आक्रमण कर शाह आलम को कैद कर उसकी आँखें फोड़ दीं। पर बाद में मरहठों ने उसे भी निकाल बाहर कर अपना राज्य स्थापित किया। सन् १८०३ तक महादजी सिंधिया दिल्ली पर राज्य करता रहा। तत्पश्चात् लार्ड लेक द्वारा पराजित होकर दिल्ली मरहठों के हाथ से अंग्रेजों के हाथ में गयी।

शाह आलम की मृत्यु १६ नवम्बर १८०६ ई० को हुई। उसका उत्तराधिकार उसके पुत्र अकबर शाह द्वितीय को अंग्रेजों के संरक्षण में मिला। उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र बहादुर शाह उत्तराधिकारी हुआ। सन् १८५७ के विद्रोह के फलस्वरूप वह कैद कर रंगून भेजा गया, जहाँ उसकी मृत्यु हुई। अन्तिम दोनों सम्राट् नाममात्र के सम्राट् थे। वस्तुतः वे अंग्रेजों के बन्दी थे।

इस प्रकार सन् १७५७ से १८५७ तक मुगल साम्राज्य का दुःखपूर्ण अन्त हुआ। इधर जाटों, मरहठों और सिखों के पतन से भारत की रही-सही स्वतन्त्रता का अवशिष्ट भी समाप्त हो गया।

---

१. स्वतन्त्र दिल्ली—डाक्टर सैयद अतहर अब्बास रिजवी, पृ० १२।

अंग्रेजों की अमानुषिकता व विस्तार

अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने अपने राज्य को बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के अमानुषिक कार्य किये। बंगाल-बिहार प्रारम्भ में ही अंग्रेजों के अधिकार में आ गये थे। बाद में उन्होंने बाकी हिन्दी प्रदेश को भी अपने कब्जे में कर लिया। अंग्रेजों की विस्तारवादी नीति का विरोध सबसे अधिक मरहठों ने किया। अनेक छोटे-मोटे राजे-महाराजे और जमींदार मरहठों के अत्याचार के कारण अंग्रेजी राज्य के अन्तर्गत आ चुके थे। अंग्रेजों ने अपने राज्य के विस्तार के लिए मुगल सम्राट् तथा कमजोर अवसरवादी राजाओं और जमींदारों को साधन बनाया। शुजाउद्दौला उनका सबसे बड़ा मित्र था। शुजाउद्दौला के पुत्र आसिफुद्दौला से उन्होंने गाजीपुर, बनारस, जौनपुर और मिर्जापुर जिलों को अपने अधिकार में कर लिया।

अंग्रेजी सेना को आर्थिक सहायता न देने और विद्रोह उभाड़ने के अपराध में बनारस के राजा चेतसिंह और चेतसिंह की सहायता करने के अपराध में उन्होंने बेगमों को दण्डित किया। आसिफुद्दौला के उत्तराधिकारी सआदतअली खाँ को सन् १८०१ में लखनऊ की सन्धि के अनुसार गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ़, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, इटावा, मैनपुरी, एटा, फर्रुखाबाद जिले और रुहेलखण्ड का अधिकांश भाग अंग्रजों को देना पड़ा। इसी वर्ष अवध के नवाब ने अपना सारा राज्य कम्पनी को सौंप कर पेन्शन स्वीकार कर ली। सन् १८०२ में होल्कर से पराजित पेशवा से मेरठ, मथुरा और आगरा को अपने कब्जे में कर लिया। इसके परिणामस्वरूप तीसरा मराठा युद्ध हुआ।

अंग्रेजों की विस्तारवादी और अन्यायपूर्ण नीति के विरोध में अन्तिम मराठा युद्ध सन् १८१७–१८ में हुआ, जिसके परिणामस्वरूप मराठों को पूरी तरह आत्म-समर्पण करना पड़ा। इसी प्रकार सन् १८४८–४९ के द्वितीय सिक्ख युद्ध के फलस्वरूप पंजाब भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। सन् १८५३ में डलहौजी ने झाँसी के राजा का राज्य ब्रिटिश बुन्देलखण्ड में मिला लिया। सन् १८५६ में अवध भी ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना पूर्ण हुई।

अंग्रेजों की इस राजनीतिक नीति के कारण जन-जीवन में असन्तोष और आशंका ने घर कर लिया। इसकी अभिव्यक्ति सन् १८५७ की क्रान्ति में लक्षित हुई।

युग-प्रवाह

भारतेन्दु युग

आलोच्य काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना सन् १८५७ की क्रान्ति है। इस भारतीय विद्रोह का मुख्य कारण था शासकों और शासितों के बीच सम्पर्क का अभाव[1]। सर सैयद अहमद ने ठीक ही संकेत किया है, 'परिषदों में भारतीयों का निषेध करने की

---

१. भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास—गुरुमुख निहाल सिंह, पृ० ८५।

नीति ने सरकार को जनमत जानने के अवसर से वंचित कर दिया। साथ ही उक्त नीति के कारण ऐसी कोई भी सम्पर्क-रेखा न थी, जहाँ से दृष्टिकोण और उद्देश्य के सम्बन्ध में सरकार और जनता के पारस्परिक भ्रम दूर किये जा सकें[१]।

भारतीय जनता की स्वतंत्र होने की इच्छा इस क्रान्ति मे प्रकट हुई। सन् १८५७ में भयंकर राज्यक्रान्ति के ज्वालामुखी का विस्फोट हुआ, जिससे हृदय की विगलित भावनाएँ तरल अग्नि की धारा की भाँति मेरठ से दिल्ली की ओर प्रवाहित हुईं। नाना साहब, तात्या टोपे और रानी लक्ष्मीबाई ने अपने अप्रतिम शौर्य से इस जनक्रान्ति को भारत के इतिहास में एक चिरस्मरणीय पर्व बना दिया[२]। अत्याचारी अंग्रेजी शासन को समाप्त करने का प्रयत्न इस माध्यम से हुआ, किन्तु अनेक कारणों से भारतीय जनता विजयी न हो सकी और एक सुदीर्घ काल के लिए वह गुलाम बनी रही। पर सन् १८५७ की क्रान्ति निस्सन्देह राष्ट्रीय क्रान्ति है, जिसके माध्यम से जनता की असन्तोष भावना प्रकट हुई थी।

सन् १८५७ की राष्ट्रीय क्रान्ति और विफलता का परिणाम

इस क्रान्ति की विफलता का परिणाम यह हुआ कि भारत का शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर इंगलैण्ड के मंत्रिमंडल के हाथ में चला गया। कम्पनी के शासन से जनता दुखी थी, क्योंकि उसने सभी क्षेत्रों में अनेक प्रकारके अत्याचार किये थे। इसलिए यह परिवर्तन भारतीय जन-जीवन को उत्फुल्ल कर गया। अगले वर्ष महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढ़ा गया जिसमें भारतीय जनता के दुख दूर करने के आश्वासन दिये गये थे। 'शिक्षित भारतीय जनता ने इस घोषणा-पत्र को अपने अधिकारों का 'मैग्नाकार्टा' समझा[३]।' इस घोषणा से भारतवासियों के मन में अंग्रेजी राज्यके प्रति अच्छी धारणाओं का विकास हुआ।

असन्तोष की लहर

इस आश्वासन और इससे उत्पन्न जनता की प्रसन्नता के बावजूद इस क्रान्ति के बाद से भारतवासियों और अंग्रजी शासन के सम्बन्ध बहुत सीमा तक बदल गये। 'अंग्रेजों के हृदय में भारतवासियों के प्रति अविश्वास भर गया और जनता के प्रति सरकार की सारी नीति बदल गयी[४]।' भारतीयो के प्रति अविश्वास के फलस्वरूप सेना, पुलिस, विदेश और राजनीतिक विभाग से भारतीय जनता का बहिष्कार हो गया। सारे देश की निःशस्त्रता के लिए शस्त्र ऐक्ट को क्षुद्रता से कार्यान्वित किया गया। इसके परिणामस्वरूप जनता में घृणा, कटुता और अवज्ञा की भावना का पुनः विकास हुआ।

---

१. इण्ट्रोडक्शन टू द हिस्ट्री आव् गवर्नमेंट इन इण्डिया—सी० एल० आनन्द।

२. उन्नीसवीं शताब्दी की पृष्ठभूमि—रामकुमार वर्मा।

३. इकानामिक हिस्ट्री आव् इण्डिया इन द विक्टोरियन एरा—एन० आर० दत्ता, पृ० २३२।

४. भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास—गुरुमुख निहाल सिंह, पृ० १३।

अंग्रेज और भारतीय के बीच आदर, मित्रता और सहृदयता की भावना समाप्त हो गयी। इस प्रकार दोनों जातियों के बीच दुराव की भावना बढ़ती गयी।

ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन की स्थापना

दोनों जातियों के बीच बढ़ने वाली खाई के फलस्वरूप एक ओर अंग्रेज अधिक कठोर और अत्याचारी हुए तो दूसरी ओर भारतीय अधिक असन्तुष्ट हो उठे। इस असन्तोष के कारण भारतीय जनता में राजनीतिक चेतना का विकास प्रारम्भ हुआ। सन् १८६६ ई० में दादाभाई नौरोजी ने लंदन में ईस्ट इण्डिया एसोशिएशन की स्थापना की। इसका उद्देश्य इंगलैण्ड की जनता का ध्यान भारतीय समस्याओं की ओर आकर्षित करना था। १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक के आस-पास रानाडे ने सार्वजनिक सभा का संघटन किया था।

इन संस्थाओं की स्थापना के पीछे भारतीय जीवन की असन्तोष तथा विरोध भावना स्पष्ट ही लक्षित होती है। महारानी विक्टोरिया के आश्वासन के फलस्वरूप भारतवासियों को यह आशा थी कि उन्हें सरकारी नौकरियों में उचित स्थान दिया जायगा। जब सन् १८७१ ई० में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को आई० सी० एस० में लिया गया, तो इस आशा की पुष्टि हुई, किन्तु १८७३ में उनपर झूठे आरोप लगाकर उन्हें नौकरी से हटा दिया गया। उनका अपराध था कि वे भारतीय थे। इस प्रकार उन्हें नौकरी से हटा कर सरकार ने भारतवासियों को अपमानित किया।

१८७७ ई० में इस सन्दर्भ में सरकार ने एक और कदम उठाया, जो भारतीय जनता के प्रतिकूल था। सरकार ने आई० सी० एस० के लिए अपेक्षित अवस्था घटाकर १९ वर्ष कर दी। इसका उद्देश्य था कि भारतवासियों का इस सेवा में प्रवेश असम्भव बना दिया जाय। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सरकार के इस रुख का विरोध किया, उन्होंने देश में घूम-घूम कर भारतीय जनता को इस तथ्य से अवगत कराया। इंडियन एसोसिएशन के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं का संघटन उन्होंने देश में किया। परिणामस्वरूप देश भर में ऐसी संस्थाओं का जाल फैल गया, जो सरकारी नीति की विरोधी थीं और जिसका उद्देश्य भारतीय हित की रक्षा करना था। कहना न होगा कि इसके फलस्वरूप देशभर में अपने हित और अधिकारों के लिए संघर्ष करने की भावना व्याप्त हो गयी।

महारानी विक्टोरिया का दिल्ली दरबार

इसी वर्ष महारानी विक्टोरियाका दिल्ली दरबार हुआ। इस दरबारमें प्रतिष्ठित भारतीय तथा राजे-महाराजे आमंत्रित हुए, जिन्होंने विक्टोरिया को अपनी महारानी माना। इसी वर्ष देश में भीषण अकाल पड़ा। सरकारी सहायता के अभाव में अनेक प्राणी काल-कवलित हुए।

भारतीय जनता में अंग्रेजी शासन के प्रति ज्यों-ज्यों असन्तोष बढ़ता गया, सरकार की दमन-नीति भी कठोर होती गयी। भारत के हिन्दी पत्रों ने इस असन्तोष को

उजागर कर राष्ट्र में जागृति ले आने का महत्वपूर्ण कार्य किया। हिन्दी पत्रों का यह कार्य राज-विरोधी था। इस विरोध को रोकने के लिए सन् १८७८ में वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट पास किया गया। इंडियन एसोसिएशन ने देश भर में व्याप्त अपनी शाखाओंके माध्यम से इसका विरोध किया, जिसके कारण चार वर्षों के बाद इस अधिनियम को रद्द कर दिया गया।

शस्त्रास्त्र अधिनियम

सन् १८७८ में ही शस्त्रास्त्र अधिनियम पारित हुआ। इस नियम के अनुसार विना अनुमति के किसी तरह का हथियार रखना, ले चलना या उनके व्यापार पर प्रतिबन्ध था। इस प्रतिबन्ध से ऐंग्लोइंडियन और कुछ सरकारी अफसर मुक्त थे। इस विभेद से भी जनता में क्षोभ था।

कांग्रेस की स्थापना

सन् १८८३ में इल्बर्ट बिल प्रस्तुत हुआ। इस बिल के द्वारा भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अधिकारियों के मुकदमे सुनने का अधिकार मिलता। अंग्रेजों ने इसे स्वीकार नहीं किया और इस बिल का उन्होंने घोर प्रतिरोध किया। फलस्वरूप बिल वापस ले लिया गया। इसी वर्ष इण्डियन एसोसिएशन के तत्त्वावधान में एक राष्ट्रीय सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें श्री बनर्जी ने भारतवासियों से संगठित होकर देश-सेवा करने का अनुरोध किया। सन् १८८४ में ही इण्डियन एसोसिएशन का प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। सन् १८८५ में बम्बई में बाम्बे प्रेसिडेंसी एसोसिएशन की स्थापना हुई तथा इसी वर्ष कांग्रेस की स्थापना बम्बई में हुई। यह इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।

कांग्रेस के जन्म से पूर्व लोगों में अंग्रेजी राज्य से घोर निराशा हो गयी थी और फलस्वरूप वे कुछ कर गुजरना चाहते थे[1]। मि० ह्यूम उस राजनीतिक अशान्ति को पहचानने लगे थे। उन्हें ऐसी रिपोर्टों की ७ जिल्दें मिलीं जिनमें भिन्न जिलों में बगावत फैलने की बात का उल्लेख था। बम्बई इलाके के दक्षिण प्रान्त में किसानों के दंगे हो चुके थे। 'यह देखकर ह्यूम साहब ने इस अशान्ति को प्रकट करने का एक सरल उपाय ढूँढ़ निकाला। वह उपाय था—कांग्रेस[2]।'

१ मार्च, सन् १८८३ को ह्यूम साहब ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों के नाम एक पत्र लिखा, उसमें उन्होने ५० ऐसे व्यक्तियों को आह्वान दिया जो भले, सच्चे, निःस्वार्थ, आत्मसंयमी एवं नैतिक साहस रखने वाले हों और दूसरों की भलाई करने की तीव्र भावना रखते हों। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'यदि आप अपना सुख-चैन नहीं छोड़ सकते तो फिलहाल हमारी प्रगति की सारी आशा व्यर्थ है और यह कहना

१. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया, पृ० ६।
२. वही, पृ० ७।

होगा कि हिन्दुस्तान सचमुच मौजूदा सरकार से बेहतर शासन न तो चाहता है और न उसके योग्य ही है[1]।' उन्होंने यह भी कहा कि यदि वे आगे नहीं आते तो अंग्रेजी दासता का जुआ उनके कंधों पर बना रहेगा।

ह्यूम मानते थे कि भारतीयों की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में अंग्रेजी सरकार असफल रही है और लोग अकाल तथा निराशा से पीड़ित हैं। सरकार जनता से अलग-सी है, इसलिए लोग अशान्त हैं। उसे व्यक्त करने का माध्यम उन्होंने कांग्रेस को बनाया। यह उक्ति ठीक ही है कि 'कांग्रेस का गठन क्रान्तिकारी असन्तोष की सुरक्षा के कारण किया गया था[2]।'

लाला लाजपतराय के अनुसार कांग्रेस की स्थापना का मुख्य कारण था—प्रवर्तकों की साम्राज्य को छिन्न होने से रोकने के लिए तीव्र इच्छा। मि० ह्यूम का जो भी उद्देश्य रहा हो, इतना निश्चित है कि अन्य भारतीय नेता, जिन्होंने कांग्रेस की स्थापना में सहायता दी, उच्चतर उद्देश्यों से प्रेरित थे। वे थे—दादाभाई नौरोजी, डब्ल्यू० सी० बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, तैयब जी, रानाडे, तैलंग और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि। लाला लाजपतराय ने भी स्वीकार किया है कि स्वयं मि० ह्यूम भी अन्य एवं उच्चतर उद्देश्यों से विशेष रूपसे प्रेरित थे। 'ह्यूम को स्वतन्त्रता का व्यसन था। दुःख और दरिद्रता के दृश्य से उनका हृदय कराह उठता था।' भारतवासियों के प्रति अपने देशवासियों के 'कायरतापूर्ण' व्यवहार से उन्हें बड़ा क्षोभ होता था। इतिहास के गंभीर अध्ययन से उन्हें यह बात भलीभाँति ज्ञात थी कि सरकार, चाहे वह राष्ट्रीय हो अथवा विदेशी, सार्वजनिक माँगों को केवल दबाव पड़ने पर ही स्वीकार करती है। अतः वह यह चाहते थे कि भारतवासी अपनी स्वतन्त्रता के लिए 'प्रहार' करें। उसका प्रथमारम्भ था संगठन। फलतः उन्होंने संगठन के लिए मंत्रणा दी[3]।'

राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय

इस प्रकार कांग्रेस की स्थापना में मात्र ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने की इच्छा ही नहीं थी। वस्तुतः बहुत दिनों से अनेक शक्तियाँ काम कर रही थीं, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आन्दोलन का उदय हुआ।

कांग्रेस की स्थापना मुख्यतः सामाजिक उद्देश्यों को लेकर हुई थी, पर क्रमशः वह पूर्णतः राजनीतिक संस्था हो गयी। कांग्रेस की नीति पहले अनुनय-विनय की थी, पर धीरे-धीरे देशवासियों के सहयोग के साथ वह आत्मावलम्बी बनती गयी। वह धर्म, धन, जाति, लिंग, पद आदि के भेद से परे थी। विकास की प्रारम्भिक अवस्था में उसने मधुरवाणी को अपनाया; यहाँ तक कि अंग्रेजों की प्रशंसा तथा राजभक्ति की भावना भी

---

१. यंग इण्डिया—लाजपतराय, पृ० १४१-१४२।

२. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया, पृ० ७।

३. इण्डियन नेशनल मुवमेंट ऐण्ड थाट—डॉ० वी० पी० एस० रघुवंशी, पृ० ४५।

प्रकट की। लोकमान्य तिलक ने विदेशियों के प्रति उग्र विचार प्रकट किये और कांग्रेस नम्रता की जगह उग्रता अपनाती गयी। उसमें शान्त क्रान्ति की जगह उग्र क्रान्ति-भावना का प्रवेश होता गया। इस भावना की वृद्धि के साथ ही साथ सरकार भी उस पर सन्देह करने लगी। सितम्बर सन् १८९७ में तिलक को १८ मास की कड़ी सजा मिली। एक वर्ष बाद मैक्समूलर, हंटर आदि के आवेदन पर वे मुक्त हुए।

सन् १८९४ में सरकार ने विदेशी वस्तुओं पर लगने वाला कर घटा दिया। इसका उद्देश्य भारत में विदेशी वस्तुओं का सुविधापूर्वक आयात करना और भारतीय गृह-उद्योग को समाप्त कर देना था। सन् १८९६ में भीषण प्लेग फैला, जिसमें अनेक व्यक्ति मरे। उसी साल दक्षिण भारत में भीषण अकाल आया जिसके फलस्वरूप २ करोड़ आदमी कालकवलित हुए।

सन् १८५७ से १९०० तक अंग्रेजी शासन की राजनीतिक नीतियों के प्रति जो असन्तोष प्रकट हुआ वह क्रमशः उग्र होता गया। कांग्रेस में शिक्षित वर्ग का प्रवेश होने लगा। धीरे-धीरे क्रान्तदर्शी भारतीय बौद्धिक कांग्रेस के माध्यम से अपना असंतोष, अधिकार और हितरक्षा की भावना प्रकट करने लगे। इस तरह भारतीय क्रान्ति-चेतना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त मंच कांग्रेस बनती गयी।

द्विवेदी युग : क्रान्ति का प्रत्यक्षीकरण

भारतेन्दु-युग की कालावधि में ही कांग्रेस में महान् क्रान्ति के लक्षण दीख पड़ने लगे, किन्तु क्रान्ति का विस्फोट (प्रत्यक्षीकरण) द्विवेदी युग में ही प्रकट हुआ। १९वीं शताब्दी तक कांग्रेस का उद्देश्य शासन-सुधार में माँग करना था किन्तु द्विवेदी युग में वह स्वशासन के अधिकार माँगने लगी। भारतेन्दु युग में कांग्रेस मात्र शिक्षितों की संस्था थी, किन्तु द्विवेदी युग में उसका सम्बन्ध मध्यवर्ग और जनता से हुआ। कांग्रेस जनप्रिय संस्था बनती गयी और इस मंच से जनता की क्रान्तिभावना उभरने लगी। कांग्रेस की इस बदली हुई स्थिति के कारण सरकार ने उसे सहयोग देना बन्द कर दिया। उसने कांग्रेस के माध्यम से प्रकट होने वाली क्रान्ति चेतना की प्रतिक्रिया से दमन की नीति ग्रहण की। परिणामस्वरूप राष्ट्र में क्रान्ति-चेतना बढ़ने लगी और द्विवेदी युग की समाप्ति तक समूचे देश में क्रान्ति की लहर व्याप्त गयी।

बंगभंग

इस युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना बंग-भंग है। सन् १९०५ में लार्ड कर्जन ने बंगाली भाषा-भाषी क्षेत्र को दो हिस्सों में बाँट दिया। बंग-भंग की इस घटना से समूचा राष्ट्र आन्दोलित हो उठा। इस आन्दोलन में जनता का सहयोग भी पूरी तरह रहा। जुलूस, सभा, प्रदर्शन आदि के माध्यम से जनता की विरोध-भावना तथा क्रान्ति-चेतना प्रकट हुई। प्रतिक्रिया में सरकार ने दमन नीति का आलम्बन किया। ज्यों-ज्यों दमन नीति की उग्रता और नग्नता बढ़ती गयी, राष्ट्रीय क्रान्ति भी तीव्र होती गयी। डा० सीतारमैया के कथन से इस स्थिति की पुष्टि होती है कि 'दमन नीति से पोषण

पाकर राष्ट्रीय उत्थान उलटा बढ़ने लगा[1]।' सारा देश क्रान्ति-चेतना से जाग्रत हो गया। राष्ट्रीय क्रान्ति के विकास में लार्ड कर्जन की इस नीति की अनुशंसा करते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है—'उन्होंने राष्ट्रीय जीवन की नींव विस्तृत एवं गहरी डाली और उन शक्तियों को उत्तेजित किया, जो राष्ट्रों के निर्माण में सहायक होती हैं। उन्होंने हमें एक राष्ट्र बनाया[2]।'

मुस्लिम लीग की स्थापना व स्वराज का प्रस्ताव

इसी पृष्ठभूमि में सन् १९०६ के कलत्ता कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने स्वतन्त्रता के इतिहास में पहली बार स्वराज्य का प्रस्ताव उपस्थित किया। उसी वर्ष अक्टूबर में भारतीय मुसलमानों के एक प्रतिनिधि मण्डल ने वायसराय से मिलकर आगामी शासन-सुधारों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माँग की। इसी वर्ष ३० दिसम्बर को ढाका के नवाब सलीमुल्लाहखाँ ने मुस्लिम लीग की स्थापना की। लार्ड कर्जन ने उन्हें कम सूद पर रुपया कर्ज दिया था। सम्भव है, लार्ड कर्जन के निर्देश से ही मुस्लिम लीग की स्थापना हुई हो। कांग्रेस का ध्यान इस वर्ष स्वदेशी आन्दोलन की ओर था। उसने सक्रिय रूप से यह आन्दोलन देश भर में चलाया।

मार्लो मिण्टो सुधार योजना

इस थोड़ी अवधि में ही भारतीय जन-जीवन में क्रान्ति की भावना इतनी तीव्र हो गयी कि उसे क्षीण करने के लिए सरकार ने भारत के शासन में सुधार करना अपेक्षित समझा। फलतः सन् १९०९ में मार्लो मिण्टो सुधार योजना का परीक्षण प्रारम्भ हुआ। इस सुधार के द्वारा मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया। उन दिनों कांग्रेस उदारवादियों (नरम दल) के प्रभाव में थी, इसलिए इस सुधार से नरम दलवाले सन्तुष्ट हुए।

सन् १९१० में पंचम जार्ज ब्रिटेन के सिंहासन पर बैठे। इस उपलक्ष्य में सन् १९११ में दिल्ली में दरबार का आयोजन हुआ। उसमें देश के कोने-कोने से राजा-महाराजा एकत्र हुए, जिन्होंने सम्राट् का स्वागत कर उनके प्रति अपनी राजभक्ति प्रकट की। सम्राट् ने इस दरबार में बंगाल को अखण्ड रखने की घोषणा की। इस घोषणा से जनता को प्रसन्नता हुई। इसे जनता के आन्दोलन की विजय के रूप में स्वीकार किया गया। सन् १९१३ में मुस्लिम लीग का लक्ष्य स्वशासन घोषित हुआ और वह कांग्रेस के निकट आने लगी।

प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ

प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ सन् १९१४ में हुआ। इसमें विश्व के प्रायः सभी राष्ट्रों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित होना पड़ा। महायुद्ध की परिस्थितियों ने

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया, पृ० ६५।

२. इण्डिया-ए नेशन—एनी बीसेंट, पृ० १६३।

भारत की राजनीति को भी प्रभावित किया। भारत का सम्बन्ध किसी रूप में महायुद्ध से नहीं था, किन्तु ब्रिटिश अधिकार में होने के कारण उसे युद्ध में शामिल होने को वाध्य होना पड़ा।

होमरूल लीग की स्थापना

इसी वर्ष लन्दन में श्रीमती एनी बिसेण्ट ने होमरूल लीग की स्थापना की। लीग का उद्देश्य भारतीय जीवन में उभरती हुई क्रान्ति का सन्देश जनता को देना था। अपने उद्देश्य की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा—'मैं सोनेवाले को जगानेवाला भारतीय टमटम हूँ जिससे वे जगें और अपनी मातृभूमि के लिए काम करें।'[१]

राजनीतिक घटनाओं की दृष्टि से सन् १९१६ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गोखले और फिरोजशाह मेहता का निधन सन् १९१५ में हुआ। इनके बाद नरम दल का प्रभाव क्षीण होता गया और कांग्रेस पर गरम दलवालों का प्रभाव होता गया। सन् १९१६ में कांग्रेस पर गरम दल का अधिकार था। सन् १९१६ में ही श्रीमती एनी बिसेण्ट ने होमरूल लीग की स्थापना पूना में की। मुस्लिम लीग के पृथक् प्रतिनिधित्व के अधिकारों को कांग्रेस ने स्वीकारा। परिणामस्वरूप उस वर्ष दोनों संस्थाओं का सम्मिलित अधिवेशन लखनऊ में हुआ, जिससे मुस्लिम हिन्दू सौहार्द की भावना बढ़ी।

होमरूल लीग को जिन्ना, लाला लाजपतराय तथा तिलक जैसे नेताओं का सहयोग भी मिलने लगा और देश में सर्वत्र उसका प्रचार हुआ और शाखाएँ खुलने लगीं। भारत में बढ़ती हुई चेतना को कुचलने के लिए सरकार दमन-नीति को प्रश्रय देने लगी। लीग की संस्थापिका श्रीमती बिसेण्ट के पत्रों से जमानतें माँगी गयीं।

गांधीजी का अफ्रीका से आगमन

भारत में बढ़ती इस जागरूक चेतना के दमन के लिए शासन में सुधार की आवश्यकता महसूस हुई और नवम्बर, सन् १९१७ में मांटेग्यू साहब आये। सन् १९१५ में गांधीजी विजयी सेनानी के रूप में अफ्रीका से भारत आये। पहले वे कांग्रेस से अलग रहे। सन् १९१६ के अन्त में उन्होंने फीजी की 'गिरमिट प्रथा' को बन्द करने के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का अस्त्र सँभाला। सन् १९१७ में वायसराय ने इस प्रथा को बन्द करने की घोषणा की।

सन् १९१८ में मांट फोर्ड योजना के प्रकाशन से कांग्रेस के नरम और गरम दल में मतभेद और बढ़ा। नरम दलवाले इस सुधार से प्रसन्न थे। गरम दलवाले इन्हें अपर्याप्त मानते थे। अतः वे सरकार के साथ सहयोग नहीं रखते थे। अंग्रेजों ने इसके अनुसार मान तो लिया कि भारत को उत्तरदायी शासन देना है, पर उसके योग्य बनाने के लिए उन्हें शासन-सूत्र संचालन की शिक्षा देनी थी। इसलिए शासन-व्यवस्था में उनके प्रतिनिधित्व की योजना की गयी।

---

१. इण्डियन नेशनलिस्ट मूवमेंट एण्ड थॉट—डा० बी० पी० एस० रघुवंशी।

रौलट बिल का प्रस्ताव व गांधीजी का विरोध

सन् १९१९ की ६ फरवरी को विलियम विंसेण्ट ने रौलट बिलों को कौंसिल में उपस्थित किया। प्रथम बिल स्वीकृत हुआ, लेकिन दूसरे को वापस ले लिया गया। गांधीजी ने घोषणा की कि वे नम्रतापूर्वक रौलट कमीशन का विरोध करेंगे, यदि इसकी सिफारिशें कानून का रूप ग्रहण करेंगी। सन् १९१९ की ३० मार्च हड़ताल के लिए निर्धारित हुई, पर किन्हीं कारणों से यह तिथि ६ अप्रैल हो गयी। तिथि-परिवर्तन की सूचना समय पर दिल्ली नहीं पहुँची, फलतः वहाँ उसी दिन हड़ताल हो गयी। सरकार दमन के लिए कटिबद्ध थी और जनता में उत्तेजना बढ़ती गयी। परिणामस्वरूप कई स्थानों पर गोलियाँ चलीं।

जलियाँवाला काण्ड

इस आन्दोलन के फलस्वरूप पंजाब के इतिहास में एक महान् दुर्घटना हुई जो राष्ट्रीयता के इतिहास में अमर है। पंजाब का निरंकुश शासक ओडायर, नहीं चाहता था कि उसके प्रान्त में भी आन्दोलन हो। अतः उसने निर्दयता से दमन प्रारम्भ किया। इसी क्रम में १० अप्रैल, १९१९ को डा० किचलू और सत्यपाल कैद कर अज्ञात स्थान में भेज दिये गये। जनता क्षुब्ध हो उठी और इसके प्रतिरोध में १३ अप्रैल, सन् १९१९ को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में जनता की एक विशाल सभा हुई जिसमें २० हजार स्त्री-पुरुष और बच्चे शामिल हुए। ओडायर की सरकार इस जन-जागृति को सहन न कर सकी और उसने दमन का निश्चय किया। जनरल डायर भीड़ को तितर-बितर करने के लिए भेजा गया। पर डायर ने पहुँचते ही गोली चलाने की आज्ञा दे दी। फलतः अनेक स्त्री-पुरुष और बच्चे नृशंसता के साथ गोली के शिकार हुए। मृत और घायल सारी रात बाग में पड़े रहे। बेंत लगाने, पेट के बल रेंग कर चलने, पानी और बिजली बन्द करने, मुकदमा चलाने आदि के कार्य दमन-नीति के अन्तर्गत हुए। जनरल डायर के इस कार्य की गवर्नर ओडायर ने प्रशंसा की। अन्य स्थानों, जैसे गुजरातवाला कसूर और शेखपुरा में भी इसी तरह के अमानुषिक अत्याचार हुए।

'सितम्बर, सन् १९१९ में वाइसराय ने हण्टर कमीशन की नियुक्ति की घोषणा पंजाब के उपद्रवों की जाँचके लिए की, परन्तु इसके साथ ही १८ सितम्बर को इन-डेम्निटी बिल आया, जो आमतौर पर फौजी कानून के साथ आया करता है।"[1] श्रीमती बिसेण्ट भी इन घटनाओं से दुःखी होकर बोलीं कि 'रौलट' बिल में कोई भी ऐसी बात नहीं है जिस पर किसी ईमानदार नागरिक को एतराज हो।' जब लोगों की भीड़ सिपाहियों पर रोड़े बरसाये तब सिपाहियों को गोली के कुछ फैर करने की आज्ञा दे देना अधिक दयापूर्ण है।'[2] श्रीमती बिसेण्ट के इस रुख से उनकी लोकप्रियता भारतीय

१. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया, पृ० १७८।
२. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया, पृ० १७८, १७९।

जनता के हृदय से उठने लगी। पंजाब-काण्ड की जाँच के लिए कांग्रेस की ओर से मालवीयजी तथा मोतीलाल नेहरू नियुक्त हुए।

२९ अप्रैल, सन् १९१९ को भारत का एक शिष्टमण्डल इङ्गलैण्ड गया, जहाँ मजदूर दल ने उसका स्वागत किया! उक्त शिष्टमण्डल ने माँग की कि मिस्र और आयरलैण्ड के समान भारत को भी आत्म-निर्णय का अधिकार मिले। तभी प्रथम महायुद्ध खत्म हुआ। अंग्रेजों की सहायता करने के पुरस्कारस्वरूप, भारत को आशा थी कि उसे आत्म-निर्णय का अधिकार मिल जायगा, पर यह नहीं हुआ। मात्र सुधार से ही भारतीयों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया।

आतंकवादी व साम्प्रदायिक भावना का जन्म

इसी युग में विभिन्न राजनीतिक परिस्थितियों के कारण आतंकवादी कार्यों तथा साम्प्रदायिक भावना का उदय हुआ। वेलेण्टाइन शिरोल के अनुसार 'यह कट्टर हिन्दुत्व की भावना से प्रेरित हुआ था और विशेषतः यह पश्चिम के प्रति ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया थी।'[1]

इनके अनुसार ब्राह्मणवाद दक्षिण में भीषण रूप से सैनिक-भाव लिये हुए था और तिलक इसके विजयी नेता थे।

इस मान्यता को अस्वीकृत करते हुए गैरेट कहते हैं कि यह कट्टर हिन्दुओं का ब्रिटिश राज्य उलटने का षड्यन्त्र नहीं था, क्योंकि उसके नेता ब्राह्मणेतर भी थे।[2] लाला लाजपतराय की दृष्टि में आतंकवादी आन्दोलन के सूत्रपात का कारण स्वतन्त्रता की प्रेरणा है। भारतीय राष्ट्रीय जीवन में आतंकवाद का जन्म कांग्रेस की असफलता का परिणाम था। इन दिनों नवयुवकों को कांग्रेस उग्र राजनीति और क्रान्ति-विरोधी संस्था प्रतीत हो रही थी, क्योंकि वह अहिंसात्मक ढंग से बहिष्कार-आन्दोलन का नेतृत्व करने को भी तब तैयार नहीं थी। लाला लाजपतराय की यह मान्यता आतंकवाद की उत्पत्ति के बारे में उचित प्रतीत होती है। गैरेट के कथन से शिरेल के मत का खण्डन हो जाता है। पर इतना स्पष्ट है कि उसमें धार्मिक भावना अवश्य थी और हिन्दुत्व की यह भावना पुनरुत्थानवादी थी।

राष्ट्रीयता का धार्मिक रूप

राजनीति के साथ धर्म का सहयोग और देशभक्ति के साथ साम्प्रदायिकता का मिश्रण भारतीय राष्ट्रीयता की एक अन्यतम विशेषता रही है। २०वीं शताब्दी के शुरू में राष्ट्रीयता के इतिहास में जो उग्रता और आतंकवाद है, वह धार्मिक क्रान्ति की भावना से भी प्रेरित रहा। लाला लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक और विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द देश-प्रेम की भावना से उद्‌बुद्ध थे। उन्हें स्वदेश और स्वदेशी

---

१. इण्डियन अनरेस्ट—वेलेण्टाइन शिरोल, पृ० ३७।
२. इण्डियन नेशनलिस्ट मुवमेण्ट एण्ड थाट—डा० वी० पी० एस० रघुवंशी, पृ० ९२।

प्यारा था। इनकी राष्ट्रीयता हिन्दू धर्म से प्रेरित थी। अरविन्द ने कहा कि हमारे सभी आन्दोलनों में स्वतन्त्रता ही जीवन का लक्ष्य है और हिन्दुत्व हमारी इस अभिलाषा की पूर्ति कर सकेगा। उनके अनुसार राष्ट्रीयता एक धर्म है जो ईश्वर से अवतरित है।[1]

आलोच्य काल में आतंकवादी कार्यों की प्रगति अत्यन्त तीव्र थी। वैसे एनी बिसेण्ट ने 'हाउ इण्डिया प्लाट फॉर फ्रीडम' में कहा कि 'यह उन बच्चों का पागल प्रयत्न है, जो कुछ बेकार अपराधों के द्वारा अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता पाने का सपना देख रहे हैं।'[2] पर तत्कालीन आतंकवादी प्रगति की तीव्रता देखते हुए यह कथन ठीक नहीं माना जा सकता।

वह राष्ट्र जो अत्याचारी शासक के इशारों पर नाचता है तथा अत्याचारों एवं अनाचारों को मूक सहता रहता है, अफीमचियों या नरकंकालों का राष्ट्र है। भारत में वह स्थिति नहीं थी, अतः उसने क्रान्तिकारी कार्यों द्वारा अत्याचारों तथा दासता का प्रबल विरोध किया और इससे अंग्रेजी सत्ता बौखला उठी। यह सरकार के विरोध में आतंकवादियों का युद्ध था।

आतंकवादियों का प्रमुख कार्यस्थल बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब बना। बंगाली आतंकवादियों की गीता 'मुक्ति कौन पथे' नामक पुस्तक थी। ये माता सम्प्रदाय या वेदान्त के आराधक थे जिनके प्रेरणा-स्रोत भगवान् कृष्ण द्वारा गीता में प्रचारित सन्देश और विवेकानन्द के लेख और वक्तव्य थे। मातृभूमि को मुक्ति दिलाने के लिए उनके एक हाथ में बम और दूसरे में गीता रहा करती थी।

तिलक महाराष्ट्र के आतंकवादियों के और लाला हरदयाल पंजाब के नेता थे। ये सरकारी खजाने और सम्पत्तियाँ लूटने को प्रेरित करते थे तथा राजनीतिक डकैतियों और अत्याचारी शासकों की हत्याएँ करते थे। पंजाब के क्रान्तिकारी डकैतियों और हत्या के अतिरिक्त सेना को स्वपक्ष में करके विद्रोह करना चाहते थे और गुरिल्ला युद्ध छेड़ने के हिमायती थे।

गदर पार्टी

इस प्रकार नवयुवक वर्ग में सर्वत्र उग्र क्रान्ति की भावना व्याप्त थी। बंग-भंग तथा स्वदेशी आन्दोलन की लहर ने 'नवयुवकों' में और जागृति बढ़ायी, जिससे नवयुवक आतंक तथा हिंसात्मक कार्यों के माध्यम से मातृभूमि की मुक्ति को सुलभ समझने लगे। उनका विश्वास था कि कांग्रेस की अहिंसात्मक क्रान्ति एवं सुधारवादी प्रयत्नों से भारत की स्वतन्त्रता सम्भव नहीं।' पुरानी राष्ट्रीयता डरपोक, हिचकिचानेवाली, गणना करनेवाली, हानि-लाभ का सन्तुलन करनेवाली, सांसारिक विचारों, दूरदर्शिता तथा स्वार्थ से बाधित थी। इसलिए वह कोई प्रभाव उत्पन्न करने में असफल हो गयी।'[3]

---

१. पोलिटिकल फिलॉसफी आव् अरविन्दो—डा० वी० पी० वर्मा, पृ० २०१।

२. इण्डियन नैशनलिस्ट मुवमेण्ट एण्ड थाट—डा० वी० पी० एस० रघुवंशी, पृ० १२२।

३. राइज एण्ड ग्रोथ आव् इण्डियन मिलिटेण्ट नैशनलिज्म—एम० ए० बच, पृ० ९६।

इसलिए अराजकतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित युवकों ने सशस्त्र क्रान्ति द्वारा देश की मुक्ति का अभियान प्रारम्भ किया। सन् १९०८ में मुजफ्फरपुर में खुदीराम बोस ने जिला जज पर बम फेंका। पर जिला जज के स्थान पर अन्य अंग्रेज मरे। इस अपराध के लिए खुदीराम को फाँसी की सजा मिली। सन् १९१० और ११ में क्रान्ति के अनेक विस्फोट बंगाल, महाराष्ट्र और मध्यभारत में हुए। इटली तथा रूस के क्रान्तिकारियों के समान भारतीय क्रान्तिकारियों ने भी सरकार को मिटाने के लिए गुप्त संगठन बनाये। लाला हरदयाल ने गदर पार्टी की स्थापना अमेरिका में की। राजा महेन्द्रप्रताप ने भी इस दिशा में काम किया। उनका सम्बन्ध रूस के बोलशेविकों से भी था।

भारत पर आतंकवादी विचारधारा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। इस आन्दोलन में भारतीय जनता अत्यल्प परिमाण में सम्मिलित थी। लेकिन देशभक्त जनता उनके विरुद्ध नहीं जाना चाहती थी। उच्च वर्ग भी इस सम्प्रदाय से भयभीत था। अतः उनका समर्थन भी इसे प्राप्त नहीं था।

आतंकवादियों का दमन सरकार द्वारा बड़ी बेरहमी से हुआ। अनेक क्रान्तिकारियों को मृत्यु दण्ड दिया गया। आतंकवादियों से घबड़ा कर सन् १९१९ में सरकार ने रौलट ऐक्ट पास किया। आतंकवादी देश-भक्ति की उत्कट भावना से प्रेरित थे। वे अंग्रेजों की कृपा से अधिकार नहीं चाहते थे, वरन् अपनी मुक्ति स्वयं चाहते थे। पर केन्द्रीय संगठन के अभाव में उपर्युक्त परिस्थितियों में आतंकवाद विशेष सफल नहीं हो सका।

राष्ट्रीय क्रान्ति पर विदेशी प्रभाव

देश की आन्तरिक राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त कुछ विदेशी घटनाओं ने भी भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति की चेतना को तीव्र किया। सन् १९०४ में रूस पर जापान की विजय, उनमें की पहली घटना है। देश के राष्ट्रीय जीवन को इससे अद्भुत प्रेरणा मिली। सारा देश इस नयी प्रेरणा से कर्ममय हो उठा। उस क्रियाशीलता का रूप बंग-भंग आन्दोलन और परवर्ती घटनाओं में द्रष्टव्य है। सन् १९१७ में रूस की जारशाही की क्रान्ति द्वारा समाप्ति और गणराज्य की स्थापना दूसरी घटना है। इस घटना से भारत की निम्नवर्गीय जनता यथा किसानों और मजदूरों में भी चेतना की किरणें फूटीं और वे भी मुक्ति की ओर अग्रसर हुए। सभी क्षेत्रों में नव्य चेतना की जागरूकता बढ़ती गयी और क्रान्ति-भावना जन-सम्पर्क से पुष्ट एवं क्रियाशील होती गयी।

इसी बीच महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त का सफल प्रयोग अफ्रीका में किया और वहाँ गोरों पर अप्रतिम विजय पाकर सन् १९१५ में भारत आये। भारतीय राजनीतिक क्रान्ति इस विजय से सबल हुई।

प्रथम महायुद्ध से भारत का प्रत्यक्षतः कोई सम्पर्क नहीं था। इसलिए इसे भी विदेशी घटना कहना ही उपयुक्त है। भारतीय सहायता के बावजूद ब्रिटेन ने भारत को स्वतन्त्रता नहीं दी। आत्म-निर्णय के अधिकार की माँग महासमर की ज्वाला से

प्रस्फुटित हुई थी। विश्वयुद्ध ने विश्वभर के लोगों का हृदय तथा मस्तिष्क जनतंत्र के नये दृष्टिकोण के प्रति खोल दिया था।[१]

इस प्रकार सम्पूर्ण देशी-विदेशी घटनाओं के प्रकाश में यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग की अपेक्षा, द्विवेदी युग का राजनीतिक जीवन अधिक क्रियात्मक और शक्तिशाली था।

छायावाद युग : असहयोग आन्दोलन

छायावाद युग का आरम्भ सन् १९२० के आसपास माना जाता है। क्रान्ति की दृष्टि से भी यह युगान्तरकारी वर्ष है। असहयोग आन्दोलन, राजनीति के रंगमंच पर महात्मा गांधी का आना और खिलाफत आन्दोलन लगभग इसी समय हुए और ये घटनाएँ भारतीय जन-जीवन की युगान्तरकारी घटनाएँ थीं। इस काल में राष्ट्रीय क्रान्ति की भावना सम्पूर्ण राष्ट्र में अखण्ड रूप से शक्तिशाली थी। जन-जीवन एक नयी चेतना से अनुप्राणित हो रहा था।

इस समय का कांग्रेस का इतिहास दलबन्दियों से आरम्भ होता है। इस वर्ष की घटनाएँ खिलाफत को लेकर प्रारम्भ हुई। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री लायड जार्ज ने महायुद्ध में तुर्की से लड़ने के उपलक्ष्य में मुसलमानों को कुछ वचन दिये थे। पर युद्ध-समाप्ति के बाद वे वचन पूरे नहीं हुए। अतः मुसलमान क्षुब्ध हो उठे और अंग्रेजों को अविश्वासी समझने लगे। अंग्रेजों ने मुसलमानों को वचन दिया था कि वे जजीरतुल अरब को, जिसमें उनके सभी धार्मिक स्थान—मेसोपोटामिया, अरबस्तान, सीरिया, फिलस्तीन—थे, खलीफा के अन्तर्गत रखेंगे। पर सन्धि की शर्तों के अनुसार तुर्की को उसके प्रदेश नहीं दिये गये और उन्हें ब्रिटेन और फ्रांस ने आपस में बाँट लिया। तुर्की का शासन मित्र राष्ट्रों के एक हाई कमीशन द्वारा होने लगा। सुल्तान एक कैदी मात्र रह गया। इस विश्वासघात से सारा देश क्षुब्ध हो उठा। प्रतिक्रियास्वरूप खिलाफती और कांग्रेसी एकत्र हुए और गांधीजी के कथनानुसार खिलाफत आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय हुआ।

वाइसराय से एक शिष्टमण्डल डा० अन्सारी के नेतृत्व में १९ जनवरी, सन् १९२० को मिला। पर परिणाम में निराशा ही रही। सन् १९२० की मार्च में एक शिष्टमण्डल इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री से मुहम्मद अली की अध्यक्षता में मिला। यह अभियान भी सफल नहीं हुआ। स्पष्टतः प्रधान मन्त्री ने साफ कहा कि तुर्की की नीति भी ईसाई राष्ट्रों के साथ बरती जानेवाली नीति ही होगी।

इन दिनों देश में हिन्दू-मुस्लिम एकता अभूतपूर्व थी। महात्मा गांधी ने इसे देखते हुए कहा था कि सौ वर्षों तक दोनों जातियों की एकता का ऐसा स्वर्ण सुयोग देखने को नहीं मिलेगा। वस्तुतः यह काल राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से अभूतपूर्व था। इसने जन-जन के मन में विदेशी शासन के प्रति विद्रोह की भावना भर दी।

---

१. इण्डियाज नागलेण्ड रिवोल्यूशन—एफ० बी० फिशर, पृ० १९१।

सन् १९२० की १४ मई को तुर्किस्तान के साथ की सन्धि की शर्तें घोषित हुईं। इससे खिलाफत आन्दोलन और राष्ट्रीय-क्रान्ति की भावना तीव्रतर हुई। गांधीजी ने सन्धि की शर्तों में संशोधन के लिए असहयोग आन्दोलन की घोषणा की। २८ मई को पंजाब की घटनाओं पर हण्टर रिपोर्ट प्रकाशित हुई। अँग्रेज सदस्यों द्वारा घटनाओं को पूर्व नियोजित बताया गया। माण्टेगु ने कहा कि 'जनरल डायर ने जैसा उचित समझा उसके अनुसार बिल्कुल नेकनीयती के साथ कार्य किया। सिर्फ उसे परिस्थिति को ठीक-ठीक समझने में गलती हो गयी।'[१] इन कारणों से भारतीय जनता निराश और क्षुब्ध होने लगी।

सितम्बर महीने में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में तत्कालीन परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया और कांग्रेस ने गांधीजी के असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया। गांधीजी का यह असहयोग प्रगतिशील अहिंसात्मक असहयोग था, जो कई नेताओं को नहीं रुचा। इनमें मदनमोहन मालवीय, विपिनचन्द्र पाल, चितरंजनदास, श्रीमती एनी बिसेण्ट, जिन्ना आदि इस प्रस्ताव का विरोध करनेवालों में मुख्य थे। इस बीच गांधीजी ने सम्पूर्ण देश का दौरा कर, जन-मानस का भय शान्त कर, आशा और उत्साह का नया प्रकाश भरा। संघर्ष की एक नवीन प्रणाली दी। विदेशी सत्ता का और तीव्र विरोध करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता पर और बल दिया। चुनाव को एक जाल कहकर उसका खण्डन किया। इससे दोनों जातियों में भ्रातृत्व भावना का विकास हुआ। राष्ट्रीयता की भावना दृढ़तर होती गयी। महात्मा गांधी का असहयोग प्रस्ताव सन् १९२० के नागपुर अधिवेशन में स्वीकृत हो गया। इस प्रस्ताव के विरोधी दास, पाल आदि कांग्रेस त्याग कर उदारवादियों में मिल गये।

विदेशिता का बहिष्कार

अब बहिष्कारों का युग आया। जनता ने मुक्त-हृदय से सरकारी उपाधियों, स्कूल-कालेज, विदेशी वस्त्र, कचहरी, कौंसिल, फौज तथा सरकारी नौकरियों का बहिष्कार गांधीजी के आह्वान पर किया। जनता को प्रशंसनीय सफलता प्राप्त हुई। देश में यत्र-तत्र कई राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित हुए। भारतीय जनता की स्थिति देखने के लिए सन् १९२१ में ड्यूक आफ कनाट आये। जनता ने हड़तालों से उनका स्वागत किया। विदेशी वस्त्रों की होली जली। स्थान-स्थान पर खून-खराबियाँ भी हुईं। अन्ततः उसका रूप साम्प्रदायिक दंगे के रूप में प्रकट हुआ। बम्बई में हिन्दू-मुस्लिम-रक्तधारा बही। प्रायश्चित के लिए गांधीजी ने अनशन आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार सन् १९२१ में असहयोग तीव्रतर होता रहा। महात्मा गांधी द्वारा शान्तिपूर्ण असहयोग द्वारा एक वर्ष में स्वराज लेने की घोषणा ने इस आन्दोलन को अत्यन्त शक्ति प्रदान की।

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारमैया, पृ० १५६।

क्रमशः यह आन्दोलन सरकारी नियमों के प्रतिवाद की ओर बढ़ा। इसी क्रम में चौरीचौरा काण्ड हुआ। फलतः वहाँ के किसान सरकारी कर्मचारियों से बदला लेने को उत्तेजित हुए और जन-समूह से प्रेरणा पाकर उन्होंने कई पुलिस सिपाहियों की हत्या कर दी। इस हिंसात्मक कार्य से गांधीजी क्षुब्ध हो गये। परिणामस्वरूप असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिया गया।

अधिकारियों ने नृशंसतापूर्वक आन्दोलनकारियों का दमन किया। उनकी यह यह नीति बाद में भी बनी रही। २० हजार से भी अधिक सत्याग्रही इस आन्दोलन में जेल गये।

स्वराजपार्टी की स्थापना

सन् १९२२ में साम्प्रदायिक दंगों के कारण हिन्दू-मुस्लिम एकता को भी धक्का लगा और कार्यतः तथा सिद्धान्ततः खिलाफत तथा असहयोग दोनों ही आन्दोलन समाप्त हो गये। जेल से छूटने पर चितरंजनदास ने कौंसिल में प्रवेश कर नौकरशाही को कुचलने की योजना बनायी। फलतः विभिन्न क्षेत्रों में नौकरशाही सचेत हो गयी। ओ० डायर ने कहा था, 'इस तरह का ध्वंस प्रकट विद्रोह की अपेक्षा ज्यादा अधिक है।' कांग्रेस की सविनय अवज्ञा समिति के अध्यक्ष की हैसियत से हकीम अजमल खाँ ने घोषणा की कि आन्दोलन मर चुका है और उन्होंने असहयोगियों से चुनाव में भाग लेने की सिफारिश की और उस रास्ते से स्वराज्य की ओर बढ़ने को कहा। साथ ही यह योजना भी थी कि यदि बहुमत प्राप्त हो जाय तो सरकार के हर कार्य का विरोध किया जाय। महात्मा गांधी कौंसिल में जाने के विरुद्ध थे। इस प्रकार कांग्रेस दो दलों में विभक्त हो गयी। कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभुत्व था। इसलिए चितरंजनदास ने स्वराज पार्टी की स्थापना की और सन् १९२३ के चुनाव में इस दल के लोगों ने हिस्सा लिया। मध्यप्रदेश और बंगाल में इन्हें सफलता भी मिली। अन्य प्रान्तों में भी स्वराजी सफल हुए, पर बहुमत न हो सका।

स्वराजी विधानसभा में सरकारी नीति का विरोध और सभा-भवन का बहिष्कार भी करने लगे। तेजबहादुर सप्रू ने स्वराजियों की राष्ट्रीयता को 'लोकोमोशन' की नाटकीय राष्ट्रीयता कहा था। कई जगह स्वराजी सफल भी हुए। बंगाल में वे बहुमत होने के कारण सफल हुए। उन्होंने मन्त्रियों के वेतन सम्बन्धी सरकारी बिल को रद्द कर दिया। मध्यप्रदेश में भी इन्होंने सरकार का जोर-शोर से खण्डन किया। सन् १९२६ में स्वराजी विधानसभा से वापस आ गये। इनके कार्य बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण भले ही न हों, पर अड़ंगा की नीति से उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष को कायम रखा। निराशा की वह भावना जो असहयोग, खिलाफत तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलनों की वजह से देश में व्याप्त थी, स्वराजियों की इस क्रियाशीलता से मिटी नहीं और राष्ट्रीय चेतना भी बनी रही। लेकिन सन् १९२३ और सन् १९२४ में देश के अनेक हिस्सों में घोर साम्प्रदायिक झगड़े हुए। दंगों का जोर इलाहाबाद, जबलपुर, शाहजहाँपुर, लखनऊ,

नागपुर, गुलबर्गा और दिल्ली आदि में रहा। दंगा अपनी चरम सीमा पर देहात में हुआ और इस दंगे ने भारत की कमर तोड़ दी।

इन साम्प्रदायिक दंगों से क्षुब्ध होकर, प्रायश्चित स्वरूप गांधीजी ने २१ दिनों का उपवास प्रारम्भ किया। सन् १९२५ में भी दंगों का जोर रहा। इसने देश की राष्ट्रीय परम्परा को भारी नुकसान पहुँचाया।

स्वराजियों की अवरोध की नीति भी सन् १९२५ से २७तक के कार्यों में बराबर नहीं चल सकी। अतः स्वराजियों ने, मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में, केन्द्रीय धारा सभा में सरकार से सहयोग प्रारम्भ किया। मालवीयजी और लाला लाजपतराय ने कांग्रेस स्वतन्त्र पार्टी बनायी और देश के हिन्दुओं को अपने झण्डे के नीचे आहूत किया। बम्बई में सरकार को खुलकर सहयोग दिया। सुभाषचन्द्र बोस पर क्रान्तिकारी दल से सम्बद्ध होने का सन्देह किया गया। वे भारत छोड़ बर्मा चले गये। स्वराज्य पार्टी दो हिस्सों में बँट गयी और राष्ट्रीय आन्दोलन का यह मंच भी सूना हो गया। इन्हीं दिनों में गांधीजी ने सूत-कताई प्रारम्भ की। संघ बनाये और सारे देश में इसका प्रचार किया।

नेहरू और बोस का आगमन

राजनीति की दृष्टि से सन् १९२८ खासे हलचल का वर्ष रहा। देश में क्रान्तिकारी भावना का पुनः विकास होने लगा। नवयुवकों का जागरण पुनः क्रान्तिकारी चेतना में अग्नि का काम करने लगा। नवयुवकों ने क्रान्तिकारी तथा सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान दिया। इस राष्ट्रीय नवजागरण के रंगमंच पर जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस जैसे नवयुवक नेता उभरे। ये दोनों उग्रवादी विचारों के थे और अनेक उत्साही नवयुवक उनके साथ थे।

सन् १९२७ के बाद राष्ट्रीयता अधिक उग्र और क्रान्तिकारी हो चली। इस उग्रता से अंग्रेजी सरकार भी इस ओर आकृष्ट हुई और भारत में उत्तरदायी शासन लागू करने के बारे में विचार करने के लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सन् १९२७ की मद्रास कांग्रेस ने अपना लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य की जगह 'पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता' घोषित किया था। इस कमीशन में कोई भारतीय नहीं लिया गया था। अतः भारत की जनता के मन में वह भावना जगी कि उनके स्वभाग्य निर्णय की पूरी तरह उपेक्षा की गयी है और इसलिए अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु उसने इस शाही कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया।

साइमन कमीशन का विरोध

३ फरवरी, सन् १९२८ को साइमन कमीशन बम्बई में उतरा। जनता ने उसका स्वागत हड़तालों से किया। सिर्फ चाटुकारों को छोड़कर किसी भी देशभक्त ने सरकार का साथ उसके स्वागत में नहीं दिया। राष्ट्रीय विचारवालों ने काले झंडों और 'साइ-

मन' लौट जाओ के नारे लगाकर सरकारी नीति का विरोध किया। सरकार ने भी भीड़ के दमन का प्रयास किया इससे जनता और सिपाहियों में मुठभेड़ हुई।

इस कमीशन में भारतीय प्रतिनिधियों को न लेने का कारण सरकार ने साम्प्रदायिक दंगों को बताया। सभी राष्ट्रनायकों को यह बात खटक रही थी। साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता की उन्नति में रोड़ा बनकर खड़ी थी। इसी समय मोतीलाल नेहरू ने स्वतन्त्रता के लिए सभी पार्टियों के सम्मेलन की योजना बनायी। फरवरी-मार्च में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ, जिसमें कांग्रेस, लीग, महासभा, सिख आदि एकत्र हुए। उन्होंने नेहरू की रिपोर्ट पर विचार किया। इस सम्मेलन ने राष्ट्रीयता के इतिहास में एक दिशा-संकेत का काम किया, क्योंकि इसके द्वारा देश की 'ऐक्य-भावना एक नये रूप में प्रस्तुत हुई। नेहरू-रिपोर्ट में साम्प्रदायिक आधार पर की जानेवाली निर्वाचन प्रणाली की भी भर्त्सना की गयी थी। कारण, राष्ट्रीयता की दृष्टि से वह अत्यन्त अनुचित और हानिकारक सावित किया गया था। लेकिन साम्प्रदायिक हिन्दू-मुसलमानों ने इसे सफल नहीं होने दिया।

कांग्रेस कुछ दिनों में स्वराजियों के हाथ से निकलकर फिर गांधीजी के हाथ में आ गयी। गांधीजी ने असहयोग की नीति अपनाने को कहा और टैक्स देना बन्द करने को कहा।

समाजवादी दल की स्थापना

सन् १९२९ की अप्रैल में मैकडोनाल्डकी मजदूरदलीय सरकारके बनने से भारतीय नेताओं में आशा और शक्ति का संचार हुआ। इंगलैण्ड से वापस लौटने पर लार्ड इरविन ने ३१ अक्तूबर, सन् १९२९ को घोषणा की कि इंगलैण्ड सरकार ब्रिटिश भारत और राज्यों का एक सम्मेलन करना चाहती है। इस सम्मेलन द्वारा वह जानना चाहती थी कि भारतीय जनता सरकार से कहाँ तक समझौता करेगी। सरकार ने यह भी कहा कि वे भारत को वैधानिक प्रगति के माध्यम से औपनिवेशिक स्वराज्य देना चाहते हैं। उदारवादियों ने सरकार से सहयोग करना स्वीकारा, लेकिन गांधीजी उसमें सम्मिलित नहीं हुए। वे वाइसराय से यह आश्वासन चाहते थे कि सम्मेलन में औपनिवेशिक स्वराज के आधार पर बातें की जायँगी। पर वाइसराय ऐसा कोई आश्वासन नहीं दे सके थे।

सन् १९२९ में कांग्रेस का अधिवेशन लाहौर में हुआ। इस समय का वातावरण सरकारी समझौते की असफलता के कारण निराशामय था। इस अधिवेशन के अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू चुने गये। यह इस बात का द्योतक था कि अग्रणी कांग्रेसियों ने प्रत्यक्ष काररवाई की नीति को अपनाने का निश्चय किया है। जवाहरलाल ने भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध खुली लड़ाई कहते हुए स्वयं को समाजवादी घोषित किया। उनका विश्वास गुप्त संघर्ष की नीति पर नहीं था। उन्होंने कहा कि अब वे परिस्थितियाँ नहीं रही हैं कि गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होकर

औपनिवेशिक राज्य लिया जाय। रावी तट पर कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय घोषित किया साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि स्वतन्त्र भारत कामनवेल्थ से किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं रहेगा।

भारतीय स्वातन्त्र्य का संकल्प दिवस

२६ जनवरी, सन् १९३० भारतीय स्वातन्त्र्य इतिहास का क्रान्तिकारी दिवस माना जायगा, जब सम्पूर्ण देश के कोने-कोने में तिरंगा झण्डा फहराते हुए पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की गयी। इसी समय सरकार से सहयोग न करने की प्रतिज्ञाएँ भी दुहरायी गयीं। इन आयोजनों से देश की शक्ति और उत्साह पर नया प्रकाश पड़ा। लोगों ने कार्य करने का यही उपयुक्त अवसर समझा। फरवरी सन् १९३० तक कांग्रेस द्वारा आहूत सविनय अवज्ञा आन्दोलन में १७२ विधायकों ने विधान सभा से त्यागपत्र दे दिया।

गांधीजी को कांग्रेस कार्यसमिति की ओर से सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ करने की अनुमति मिल गयी। गांधीजी ने इसकी घोषणा करते हुए कहा—'मुझे भिक्षां-देहि की राजनीति पर विश्वास था। पर वह सदा व्यर्थ हुआ। मैं जान गया कि सरकार को सीधा करने का यह उपाय नहीं है। अब तो राजद्रोह ही मेरा धर्म हो गया है। पर हमारी लड़ाई अहिंसा की लड़ाई है। हम किसी को मारना नहीं चाहते, पर इस सत्या-नाशी शासन को खत्म कर देना हमारा परम कर्तव्य है[१]।'

गांधीजी की दंडीयात्रा

सविनय अवज्ञा के सन्दर्भ में उन्होंने नमक कानून भंग करने का निश्चय किया। साबरमती आश्रम से अपने ७९ साथियों सहित, नमक कानून भंग करने के लिए उन्होंने दंडी के समुद्र तट की ओर प्रस्थान किया। यह ऐतिहासिक अभियान था। साबरमती में ७५ हजार किसानों ने भारत स्वतन्त्र होने तक विश्राम नहीं लेने की प्रतिज्ञा ली। देश के कोने-कोने में नमक कानून भंग हुआ। गांधीजी को अभूतपूर्व सहयोग और समर्थन मिला। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक राष्ट्रीय क्रान्ति-चेतना की धारा बहने लगी।

बॉम्बे क्रानिकल ने इस अवसर का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है:—

'इस महान् अवसर पर देश-प्रेम की जितनी प्रबल धारा बह रही थी इतनी पहले कभी नहीं बही थी। यह एक महान् आन्दोलन का महान् आरम्भ था और निश्चय ही भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा[२]।'

गांधीजी नमक कानून तोड़ने के अपराध में ५ अप्रैल को कैद किये गये। उनकी कैद से देश भर में आन्दोलन आरम्भ हो गया। प्रत्येक वर्ग को पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति में सहयोग के लिए आमन्त्रित किया गया। करबन्दी, नशाबन्दी तथा विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार सम्पूर्ण देश में फैल गया। इस स्वराज्य आन्दोलन में प्रत्येक वर्ग ने समुचित

१. कांग्रेस का इतिहास : पट्टाभि सीतारमैया, पृ० ३०६।
२. 'कांग्रेस का इतिहास' में उद्धृत अंश, पृ० ३०६।

सहयोग दिया। यहाँ स्मरणीय यह है कि कांग्रेस की इस कारवाई के आरम्भ में मूलतः आर्थिक राष्ट्रीय-क्रान्ति की चेतना थी।

सरकार द्वारा भी दमन कार्य जोर-शोर से प्रारम्भ हुआ। स्थान-स्थान पर लाठी-चार्ज हुआ। देश एक जेलखाने सा हो गया। औरतों के साथ नृशंसतापूर्ण कार्य हुए। विद्यार्थी और शिक्षक पीटे गये। लम्बी-लम्बी सजाएँ दी गयीं और अनेकों की सम्पत्ति जब्त कर ली गयी।

इन्हीं दिनों जून, सन् १९३० में साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट दी जिसमें भारतीय भावना की उपेक्षा थी। इससे आन्दोलन को और बल मिला।

आन्दोलन के विकास के साथ ही देश में क्रान्तिकारी कार्य भी तेजी से होने लगे। क्रान्तिकारियों ने चटगाँव के शस्त्रागार को अप्रैल, सन् १९३० में लूट लिया। शोलापुर में विद्रोह फूटा और सम्पूर्ण शहर विद्रोहियों के कब्जे में आ गया। सन् १९३० में ही भगतसिंह ने सरकारी नीति के विरोध में विद्रोह प्रकट करने के लिए असेम्बली में बम फेका। इस वर्ष के उत्तरार्द्ध में सम्भवतः ऐसा कोई सप्ताह नहीं था, जब किसी अंग्रेज अधिकारी पर बम न फेका गया हो।

प्रथम गोलमेज परिषद्

आन्दोलन और आतंक के इस परिवेश में मध्यवर्गीय तथा पूँजीपति ऊब चुके थे। अतः वे चाहते थे कि सरकार और कांग्रेस में समझौता हो जाय। समझौते के लिए उदारवादी नेता तेजबहादुर सप्रू और जयकर कांग्रेसी नेताओं और वाइसराय से मिले। अन्य शर्तों के साथ ही कांग्रेस ने अर्थ और सुरक्षा पर पूर्ण अधिकार के साथ भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी शासन की माँग रखी। वाइसराय इससे सहमत नहीं हो सके। अतः प्रथम गोलमेज परिषद् में कांग्रेस सम्मिलित नहीं हुई। लार्ड जेटलैण्ड ने इसे राजनीतिक बुद्धिमत्ता से रहित अद्वितीय कार्य कहा। वस्तुतः द्वितीय परिषद् में सम्मिलित होकर कांग्रेस वैधानिक शासन की दिशा में कोई विशेष महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकी[१]।

१२ नवम्बर सन् १९३० को प्रथम गोलमेज परिषद् प्रारम्भ हुई। प्रधानमंत्री मेकडॉनल्ड ने परिषद् को भारत के भावी विधान का प्रारूप तैयार करने का भार दिया, लेकिन वह भार भी पूर्ण नहीं था। उन्होंने संघात्मक शासन प्रणाली की स्थापना को अपना ध्येय बताया और सुरक्षा तथा वैदेशिक विभाग को सुरक्षित विषय बताकर वाइसराय के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत दे दिया। कांग्रेस ने उसमें भाग नहीं लिया। उसमें ब्रिटिश भारत, भारतीय राजाओं तथा ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस परिषद् द्वारा मजदूर दलीय सरकार इस तथ्य से अवश्य परिचित हो गयी कि भारत तुरत औपनिवेशिक स्वराज्य चाहता है।

---

१. इण्डियन नेशनलिस्ट मुवमेण्ट एण्ड थाट—डा० वी० पी० एस० रघुवंशी, पृ० २११।

मुसलमानों ने अपने सम्प्रदाय की सुरक्षा के लिए परिषद् में जोरदार अपील की। हिन्दू प्रतिनिधि सफलतापूर्वक इसका विरोध नहीं कर सके। सुभाषचन्द्र बोस के शब्दों में 'गोलमेज परिषद् ने भारत को दो कड़वी गोलियाँ दीं, सुरक्षा और संघ की। इन गोलियों को भोग्य बनाने के लिए उनके ऊपर उत्तरदायित्व की चीनी लपेट दी गयी थी[1]।'

सरकार द्वारा गोलमेज परिषद् की काररवाई पूरी तो हुई पर कांग्रेस के अभाव में यह सम्प्रदायवादियों और प्रतिक्रियावादियों का सम्मेलन सिद्ध हुई। वाइसराय ने महात्मा गांधी से सहयोग माँगा। प्रधान मन्त्री ने भी अपनी सहमति प्रकट की।

सरकार इस विषय में सचेष्ट थी, इसीलिए उसने गांधीजी को बिना शर्त के, उनके १९ साथियों के साथ, मुक्त कर दिया ताकि वे समझौते के सम्बन्ध में विचार विमर्श कर सकें। कांग्रेस ने भी समझौते को स्वीकारा और घोषणा की कि इस समय कोई नया आन्दोलन आरम्भ न किया जाय।

गांधी इरविन समझौता

गांधी इरविन समझौता ५ मार्च, सन् १९३१ को सम्पन्न हुआ, जिसमें गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन को वापस लेना और गोलमेज परिषद् में हिस्सा लेना स्वीकार किया। सरकार ने भी कई शर्तों को स्वीकार कर लिया। उनमें प्रमुख थीं—राजनीतिक बन्दियों की मुक्ति, आर्डिनेन्सों को वापस लेना, जब्त सम्पत्ति लौटाना, समुद्र के किनारे रहने वालों को बिना टैक्स नमक बनाने देना तथा नशाबन्दी का शक्तिपूर्ण विरोध करने की छूट देना। महात्मा जी की इस स्वीकृति से कई लोगों ने उन पर शक्तिशाली जन-आन्दोलन को पथभ्रष्ट करने और स्वराज्य संघर्ष को छोड़ने का आरोप लगाया। कुछ आलोचकों ने क्षुब्ध होकर उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति भारतीय राष्ट्रीयता का समर्पण भाव कहा। लेकिन महात्मा जी इस समझौते को अपनी विजय मानते थे। नवयुवक इसके विरुद्ध थे, क्योंकि हाल में ही सरदार भगतसिंह को फाँसी मिली थी।

हिन्दू-मुस्लिम दंगा

सन् १९३१ में ही हिन्दू-मुस्लिम दंगा अपने भीषण रूप में कानपुर में हुआ। इसमें गणेशशंकर विद्यार्थी मारे गये। सम्पूर्ण देश में इससे क्षोभ और दुःख व्याप्त हो गया।

अत्यन्त वाद-विवाद के बाद सन् १९३१ की कराँची कांग्रेस ने समझौते के प्रस्ताव को स्वीकृति दी और कांग्रेस प्रतिनिधि के रूप में मात्र गांधी जी २९ अगस्त सन् १९३१ को द्वितीय गोलमेज परिषद् में शामिल होने के लिए इंगलैण्ड चले।

लेकिन वहाँ १६ अगस्त को मजदूर सरकार द्वारा इस्तीफा दिये जाने और अनुदार

---

१. दी इण्डियन स्ट्रगल—सुभाषचन्द्र बोस, पृ० २७५।

दल की नयी सरकार हो जाने के कारण, परिस्थितियाँ भिन्न थीं। अतः गोलमेज परिषद् थकाने वाली आडम्बरपूर्ण वाद-विवाद समिति मात्र बनकर रह गयी।

इस परिषद् में गांधी जी साम्प्रदायिक समस्याओं का समाधान चाहते थे। लेकिन उनकी सारी चेष्टाएँ भारतीय राजाओं और सम्प्रदायवादियों के संयुक्त प्रयास से निष्फल हो गयीं। डा० अम्बेडकर ने भी दलित जातियों का प्रभावपूर्ण चित्रण करते हुए हिन्दुओं के साथ रहना अस्वीकार कर दिया। पं० मालवीय जैसे हिन्दू नेता भी गांधी जी के विरोधी थे। अन्ततः दलित वर्ग, मुस्लिम, भारतीय ईसाई, आंग्ल भारतीय और ब्रिटिश सरकार के सदस्य संयुक्त रूप से राष्ट्रीयता के पक्षधर गांधी जी के विरुद्ध हो गये और पृथक चुनाव की माँग करने लगे। महात्मा गांधी ने अत्यन्त दुःख के साथ कहा कि वे साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान में सफल नहीं हो सके।

१ दिसम्बर सन् १९३१ को परिषद् की कारवाई समाप्त होने पर गांधी जी ६ दिसम्बर को इंगलैण्ड से भारत के लिए रवाना हुए। अभी वे रोम में ही थे कि 'लन्दन टाइम्स' ने एक इटालियन प्रेस रिपोर्टर की रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसमें कहा गया था कि वे पुनः संघर्ष आरम्भ करने जा रहे हैं। यह संवाद एकदम गलत था। २८ दिसम्बर को वे भारत आये और ४ जनवरी, सन् १९३२ को फिर कैद कर लिये गये। इस गिरफ्तारी से संघर्ष फिर से आरम्भ हो गया। आन्दोलन की प्रगति के साथ ही सरकारी बहुमुखी आतंकवादी दमन भी प्रगति करता गया। कांग्रेसी नेताओं को लम्बी-लम्बी कैदें हुईं।

मुसलमान सरकार के साथ हो गये। मौलाना शौकत अली ने बम्बई में बहिष्कार आन्दोलन को चुनौती दी। फलतः हिन्दू-मुस्लिम उत्तेजना बढ़ी और मई में साम्प्रदायिक दंगा आरम्भ हुआ। दलित वर्ग भी मुसलमानों की राह पर था। शहर की दशा खराब होती गयी, पर नौकरशाही प्रसन्नता के साथ चुपचाप सब देखती रही।

मैकडॉनाल्ड एवार्ड

८ अगस्त सन् १९३२ को मैकडानाल्ड ने एक एवार्ड प्रकाशित किया, जिसमें अल्पमत वाली जातियों के लिए पृथक निर्वाचन का विधान बनाया गया था। मुसलमानों के लिए तो स्थान सुरक्षित था ही, सिखों और दलित वर्ग के लिए भी स्थान सुरक्षित कर दिया गया। यह सब भारतीय सदस्यों के साम्प्रदायिक समस्याओं के सुलझाने में असफल होने के कारण किया गया। ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा हिन्दू सम्प्रदाय में भी फूट डालने के कारण महात्मा गांधी क्षुब्ध हुए और उन्होंने आमरण अनशन प्रारम्भ किया।

इस कार्य से हिन्दू जनता अत्यन्त उत्तेजित हो उठी। मालवीय जी द्वारा हिन्दुओं की एक सभा बुलायी गयी। इसमें डा० अम्बेडकर भी थे। गांधी जी की प्राणरक्षा के लिए समझौते का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं से असन्तुष्ट डा० अम्बेडकर ने मौके का लाभ उठाकर दलित वर्ग के लिए अधिक स्थानों की माँग की। दलित वर्ग को प्रान्तीय विधान सभा में सरकार द्वारा ७१ स्थान मिले थे। अब

१४८ स्थान देना तय हुआ और इस आशय का एक समझौता हुआ जो पूना-समझौता के नाम से अभिहित किया गया। गांधी जी द्वारा हुई इस सिफारिश को सरकार ने भी स्वीकार कर लिया। फलतः कांग्रेस के साथ दलित वर्ग भी हो गया और अछूतोद्धार का आन्दोलन तीव्र गति से प्रारम्भ हुआ।

अछूतोद्धार आन्दोलन

अछूतोद्धार आन्दोलन की तीव्र सक्रियता से सविनय अवज्ञा आन्दोलन की गति निष्क्रिय हो गयी। तृतीय गोलमेज परिषद् सन् १९३२ में लन्दन में हुई। इसमें एक तरफ तो राजभक्त और प्रतिक्रियावादी ब्रिटिश अधिकारियों के साथ मिल कर भारत के भाग्य पर विचार कर रहे थे और इधर दूसरी तरफ भारत में देशभक्तों पर जेल में कोड़े पड़ रहे थे। क्रमशः सविनय अवज्ञा आन्दोलन जड़ होता गया। पर कुछ न कुछ धीमी गति में ही गांधी जी के जेल मुक्त किये जाने की तिथि अर्थात् ८ मई सन् १९३३ तक यह चलता रहा।

मुक्ति के पश्चात् ६ सप्ताह के लिए गांधी जी ने आन्दोलन बन्द कर दिया। कारण; आर्डिनेन्सों से जनता भयाक्रान्त थी तथा देश में हिंसावृत्ति बढ़ रही थी और अहिंसा के पावन सिद्धान्त को धक्का लग रहा था। सामूहिक रूप से आन्दोलन स्थगित था पर राष्ट्रीय सम्मान के हेतु व्यक्तिगत आन्दोलनों का क्रम सन् १९३४ के मार्च तक चलता रहा।

क्रमशः लोग पदों की ओर आकृष्ट होने लगे। कौंसिल-प्रवेश का लोभ जगा। सन् १९३३ के मार्च में डा० अन्सारी की अध्यक्षता में सविनय अवज्ञा आन्दोलकों की एक सभा हुई। सभा ने फिर से निर्वाचन में सम्मिलित होने वालों के लिए, मतदाताओं को संगठित करने का निश्चय किया। इससे कांग्रेस ने भी सहमति प्रकट की। गांधी जी ने भी इसे स्वीकृति दी परन्तु स्वयं को उन्होंने सविनय अवज्ञा आन्दोलन में ही लगाये रखा।

सन् १९३४ के कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन ने कौंसिल प्रवेश के प्रभाव से सहमति प्रकट की।

सरकार ने भारत के वैधानिक विकास का प्रारूप तैयार करते हुए एक श्वेत पत्र मार्च सन् १९३३ में विज्ञापित किया। इसमें प्रकाशित साम्प्रदायिक एवार्ड से देश बौखला उठा। मुसलमानों द्वारा इसे समर्थन मिला जब कि हिन्दू इसके एकदम विरोधी थे। गांधी जी इस विषय में स्पष्ट नहीं थे। एवार्ड ने कांग्रेस में मतभेद पैदा कर दिया। मालवीय जी और अणे जी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने कांग्रेस राष्ट्रीय दल का संगठन किया। इन दिनों हिन्दू और मुसलमान बहुत उत्तेजित थे।

श्वेत पत्र की स्वीकृति

श्वेत पत्र के आधार पर बने भारतीय कानून को राजकीय स्वीकृति ४ अगस्त सन् १९३५ को मिली। इसमें अधिक भारतीयों को मतदान का अधिकार दिया गया

था तथा प्रान्तीय स्वराज्य भी स्वास्थ्य शिक्षा और आर्थिक कल्याण के क्षेत्र में मिला था।

कौंसिल प्रवेश के विषय में भी कांग्रेस में मतभेद था। दक्षिणपन्थी नेता विधान के अनुसार कौंसिल प्रवेश के इच्छुक थे पर नेहरू तथा बोस जैसे वामपन्थी इसके विरोधी थे। सन् १९३६ में नेहरू ने निर्वाचन में हिस्सा लेने का विरोध करते हुए कहा कि हमने जिस महान् कार्य के लिए संकल्प किया है, उसके लिए विश्राम नहीं करना है। यदि हम ऐसा करते हैं तो देश के करोड़ों लोगों के साथ विश्वासघात करते हैं। सुभाषचन्द्र बोस ने इसे पराजय और समर्पण कहा। जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव जैसे समाजवादी विरोध में कांग्रेस समिति की बैठकों से कई बार बाहर चले आये। पर राजा जी, पटेल, राजेन्द्रप्रसाद और महात्मा जी भी कौंसिल-प्रवेश के समर्थक थे। दोनों दलों में गांधी जी ने मेल कराया और कांग्रेस ने निर्वाचन में हिस्सा लिया। बिहार, उड़ीसा, मद्रास, युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त और बरार में कांग्रेस को बहुमत मिला। बम्बई, बङ्गाल, आसाम और उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त में कांग्रेस एकमात्र बड़े दल के रूप में चुनी गयी। पंजाब और सिन्ध में बहुत अल्प मात्रा से यह पराजित रही। निराश और आक्रान्त भारतीय जनता के मानस में, चुनाव की इस विजय से, राष्ट्रीयता सम्बन्धित भावनाएँ दृढ़ हुईं और प्रतिक्रियावादियों के इस कथन को जवाब मिला कि भारतीय राष्ट्रीयता अब खत्म हो चली है।

इस युग के उत्तरार्द्ध में भारत में समाजवाद आया। जवाहरलाल नेहरू ने भी इसी समय अपने को समाजवादी कहा। भारत में कम्युनिस्ट संघ सन् १९२८ के आसपास बना। कम्युनिस्ट पार्टी ने मजदूरों तथा किसानों में वर्ग-चेतना उत्पन्न की। अनेक अवसरों पर पूँजी और श्रम में विवाद हुए। मजदूरों और किसानों की समस्याओं पर ध्यान देने के कारण साम्यवाद लोकप्रिय होता गया। सन् १९३४ में कांग्रेस ने भी समाजवादी दल की स्थापना की। सन् १९३८ के बाद समाजवाद भारत के जीवन में अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया। इससे जन-चेतना विकसित होती ही रही, साथ ही संघर्ष-भावना भी बढ़ती गयी। इन दिनों शोषण के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रियाएँ हुईं।

प्रगतिवाद युग

समाजवाद के आगमन ने भारतीय राष्ट्रीयता में उग्र क्रान्तिवादिता भर दी थी। आलोच्य-काल की राजनीतिक परिस्थितियाँ कांग्रेस द्वारा सरकारी सहयोग से प्रारम्भ होती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कांग्रेस कई प्रान्तों में बहुमत प्राप्त कर चुकी थी। निर्वाचन के सन्दर्भ में नेताओं ने देश भर में ओजस्वी भाषण किये। इन सब कारणों से कांग्रेस तथा राष्ट्रीय चेतना तीव्र और सक्रिय हो गयी। आशा और विश्वास का वातावरण व्याप्त हुआ, लेकिन इस विश्वास में बलिदान एवं उत्सर्ग नहीं बल्कि विधान का आग्रह था। राष्ट्रीय चेतना से प्रतिक्रियावादियों को धक्का लगा। लोगों

की यह निराशा समाप्त हो गयी कि राष्ट्रीय चेतना समाप्तप्राय है। इसी राष्ट्रीय जागरूकता और उग्रता के परिवेश में कांग्रेस का मन्त्रिमण्डल में प्रवेश हुआ।

कांग्रेस सरकार की स्थापना

जून, सन् १९३७ में लार्ड लिनलिथगो ने जो उस समय वाइसराय थे, एक वक्तव्य प्रकाशित किया, जिसमें सरकार की ओर से कांग्रेस को पूर्ण सहयोग देने की बात कही गयी। सन् १९३७ की जुलाई में कांग्रेस की स्वतन्त्र सरकार ६ प्रान्तों में और २ प्रान्तों में संयुक्त सरकार स्थापित हुई। और इस प्रकार वे जो सरकार के विरोधी थे, अब हिज मेजेस्टी के शासन के सूत्रधार बने, पर आगे द्वैध शासन के परिणामस्वरूप कांग्रेस के कार्यकलाप में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हुईं। फल यह हुआ कि वह किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य में सफल नहीं हुई।

आगे चलकर सन् १९३८ में सुधारवादी तथा समझौतावादी दृष्टिकोण और कार्य के कारण कांग्रेस में विभेद पैदा हो गया। अनेक कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाने के विरोधी थे। पर सुधारवादियों ने विरोध की परवाह न कर सरकार का साथ दिया। फलतः क्षोभ तीव्र हुआ और सन् १९३८ में उसका प्रत्यक्षीकरण हुआ।

सुधारवादी नेता गांधीवादी होते हुए भी अत्यन्त सहिष्णु और धैर्यवादी थे। इसलिए वे अंग्रेज सरकार को मिटाने के लिए राष्ट्रीय शक्ति का उपयोग नहीं करना चाहते थे, बल्कि हर तरह से सरकार के सहयोग के लिए प्रस्तुत थे। इनमें साम्राज्यवाद प्रमुख थे राजा जी तथा सरदार पटेल। ये ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध द्वारा नाजीवाद के चरणों को दृढ़ करने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में वे ब्रिटिश सरकार को जनतन्त्र का पक्षधर और समर्थक मानते थे। यही कारण था कि वे सरकार के साथ समझौता करने के समर्थक थे।

सुभाषचन्द्र बोस वामपन्थी दल के पक्षधर थे। इन्हें उदारवादियों की सुधार और समझौते की नीति एकदम पसन्द नहीं थी। अतः वे इस नीति के तीव्र आलोचक थे। महायुद्ध की अनिवार्यता को उन्होंने पहचान लिया था। उसमें इंग्लैण्ड पर आनेवाली सम्भावित विपत्तियों को भी उन्होंने समझा था। ब्रिटेन पर जब नाजीवाद की बढ़ती हुई ताकत आक्रमण करे, वैसे समय में एक धक्का देकर वे उसे समाप्त कर देना चाहते थे। प्रतिज्ञाओं की परवाह उन्हें नहीं थी। विदेशी साम्राज्यवाद को भारत से मिटाने के लिए वे हिंसात्मक कार्यों के भी पक्ष में थे। मजदूरों और किसानों में वे शोषण की विभीषिका दिखाकर तीव्र असन्तोष फैला देना चाहते थे। इस विरोधी गांधीवादी रुख में साम्यवादियों और समाजवादियों ने भी उनका साथ दिया। प्रमुख साम्यवादी जी० अधिकारी ने लिखा है कि कांग्रेस का रास्ता भीरुतापूर्ण और समझौतावादी मार्ग पूँजीपतियों का था।

त्रिपुरी अधिवेशन

उदारवादी कांग्रेसी ब्रिटेन का विनाश कर, स्वतन्त्रता के पक्ष में नहीं थे। न ही

वे स्वराज्य के लिए सरकार को अन्तिमेत्थम देने के पक्ष में थे। सन् १९३९ में त्रिपुरी अधिवेशन के सभापति के निर्वाचन को इस विरोधी परिस्थिति ने अत्यन्त उलझा दिया। वामपन्थियों के आग्रह से सुभाषचन्द्र बोस ने फिर से अध्यक्ष पद का उम्मीदवार बनना चाहा, लेकिन उदारवादी इसके पक्ष में नहीं थे, क्योंकि इससे कांग्रेस की समझौतावादी नीति को धक्का लगता। अतः उदारवादियों ने डा० पट्टाभि सीतारमैया को उनके विरोध में खड़ा किया और उनके पक्ष में स्पष्टतः प्रचार किया।

इस विरोधी विषम परिवेश में अध्यक्ष का निर्वाचन हुआ। २०३ के बहुमत से सुभाषचन्द्र बोस अध्यक्ष बने। गांधी जी ने इस चुनाव पर खुशी प्रकट करते हुए भी पट्टाभि सीतारामैया की हार को अपनी हार कहा। लेकिन त्रिपुरी अधिवेशन में उदारवादियों की ही चलती रही, क्योंकि बीमारी के कारण सुभाष बाबू कुछ न कर सके। फिर गांधीवादियों को धनिकों और जनता का भी सहयोग प्राप्त था। इस प्रकार सन् १९०७ से प्रारम्भ वामपन्थी तथा उदारवादी विचारों का संघर्ष समाप्तप्राय हो गया। क्षुब्ध होकर सुभाषचन्द्र ने कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर, फारवर्ड ब्लाक को स्थापित किया।

द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ

द्वितीय महायुद्ध सन् १९३९ के सितम्बर में आरम्भ हुआ। अनुमति के बगैर ही भारत के गवर्नर जनरल ने भारत को इस युद्ध में सम्मिलित कर लिया। गांधी जी इस अनुत्तरदायी कार्य के प्रति चुप रहे। कांग्रेस ने सरकार से युद्ध नीति जाननी चाही और युद्ध में इस शर्त पर सम्मिलित होना स्वीकार किया कि युद्धोपरान्त भारत स्वतन्त्र राज्य घोषित हो, लेकिन सरकार ने ऐसा कोई आश्वासन नहीं दिया। नवम्बर, सन् १९३९ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने कांग्रेस कार्य समिति के आदेश से पद-त्याग दिया। इससे सभी प्रान्तों में गवर्नरों के शासन का प्रारम्भ हुआ। सन् १९३५ में साम्राज्यवाद से सुलह कर, कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल में जाने का निर्णय लिया था, पर यह दिशा अधिक ठीक नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे साम्प्रदायिक धरातल पर शासन हस्तगत करने को प्रोत्साहन मिला। मुस्लिम सम्प्रदायवादियों को यह कहने का सुनहला अवसर मिला कि कांग्रेस का ध्येय हिन्दू राज्य की स्थापना है और उन्होंने इस बात को अधिकाधिक प्रचारित भी किया। फलतः हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य में वृद्धि हुई और एकता का ह्रास हुआ। २२ दिसम्बर सन् १९३९ को मुस्लिम लीग ने मुक्ति दिवस मनाया, क्योंकि उस दिन कांग्रेस राज्य समाप्त हुआ।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत की स्वतन्त्रता को अस्वीकृत करने का आधार हिन्दू-मुसलमान के बिगड़े हुए सम्बन्ध को बनाया। लार्ड लिनलिथगो ने कहा कि सरकार द्वारा किसी निश्चित नीति की घोषणा नहीं किये जाने का कारण अल्पमतों, देशी राजाओं और पूँजीपतियों की सुरक्षा के प्रश्नों से सम्बद्ध है। सन् १९४० की जनवरी में उन्होंने गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति को विस्तृत कर कुछ राजनीतिक

नेताओं को लेने की घोषणा की। इस दिशा में उन्होंने कांग्रेस के सुझावों को स्वीकृत नहीं किया। अतः सदा की भाँति कांग्रेस के सामने इस बार भी 'असहयोग' का ही रास्ता बचा।

रामगढ़ कांग्रेस अधिवेशन

अप्रैल, सन् १९४० में रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य के बदले अन्य कुछ भी न लेने की घोषणा हुई। इस अधिवेशन में भारत के लिए विधान निर्मातृ सभा की भी माँग की गयी, जो भारत का विधान स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और राष्ट्रीय एकता के आधार पर बनाये। जनता से भी अनुरोध किया गया कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए वह सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग ले। युद्ध-विरोध आन्दोलन नवम्बर सन् १९४० में प्रारम्भ हुआ। अनेक सत्याग्रही जेल भेजे गये। यह संघर्ष निष्क्रिय था। फलतः अंग्रेजी सरकार इससे नहीं हिली और सन् १९४१ तक यह समाप्त हो गया।

कम्युनिस्ट पार्टी का जन-संघर्ष

इस काल में राष्ट्रवादी नेताओं के अतिरिक्त कम्युनिस्ट पार्टी ने भी जन-संघर्ष शुरू किया। जनतान्त्रिक और तानाशाही साम्राज्यवादी शक्तियाँ ही इस समय युद्ध में लड़ रही थीं। रूस-युद्ध भी चल रहा था। पर नाजी जर्मनी द्वारा रूस पर हमला किये जाने पर ब्रिटेन आदि जनतान्त्रिक साम्राज्यवादियों ने रूस से युद्ध-समझौता किया। तत्पश्चात् भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दिशा परिवर्तित हो गयी। रूस के सम्मिलित होने पर उसने युद्ध को जन-युद्ध कहा और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए किये संघर्ष का विरोध प्रारम्भ किया। 'राष्ट्रीय जन-संघर्ष से दूर रह कर तथा उसका विरोध कर कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष को धोखा दिया[१]।'

स्वतन्त्रता की प्रगति में बाधक : कम्युनिस्ट

कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीयता को वर्ग-चेतना के माध्यम के रूप में मानती थी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मजदूर राज्य स्थापित करना उसका उद्देश्य था। अतः वह राष्ट्रीय नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रभावित थी। मास्को उसका केन्द्र था। अतः वह सदा मास्को की ओर देखती रही और उसका निर्देश स्वीकार कर अपनी नीतियाँ बनाती रही। इसीलिए रूस के युद्ध में शामिल होते ही विश्व-युद्ध जनता का युद्ध हो गया। 'जन-युद्ध की ज्वरोन्मत्तता में उसने सुभाष बोस को 'भारतीय स्वतन्त्रता का गद्दार' 'जापानी साम्राज्यवाद का पिट्ठू' और जापानी तानाशाही के पीछे दौड़नेवाला कुत्ता' कह कर सम्बोधित किया था[२]।' जब कि हर भारतीय स्वातन्त्र्य के इच्छुक व्यक्ति के वे श्रद्धास्पद हैं। इसी आधार पर कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् १९४२ की अगस्त क्रान्ति का भी विरोध किया।

---

१. रिसेण्ट ट्रेण्डस् इन इण्डियन नेशनलिज्म—ए० आर० देसाई, पृ० २६।

२. लीडरशिप एण्ड पोलिटिकल इंसिट्यूशन्स आफ इण्डिया—पार्क और टिंकर, पृ० ८२-८३।

इस प्रकार भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष की प्रगति में, कम्युनिस्ट पार्टी इस काल में अवरोधक बनी रही। कम्युनिस्ट पार्टी को इस दृष्टिकोण से अराष्ट्रीय भी कहा जा सकता है।

सोवियत रूस के विरुद्ध जर्मनी ने इसी बीच युद्ध की घोषणा कर दी। धुरी राष्ट्रों के आक्रमण के शिकार चीन और रूस के प्रति भारतीय जनता के मानस में सहानुभूति जगी और उसका प्रदर्शन अनेक माध्यमों से हुआ। इसी समय जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। जापान की प्रारम्भिक जीतों से साम्राज्यवादी बौखला उठे। अब खतरा भारत के द्वार पर था, इसलिए भारतीय भी भयाक्रान्त थे।

इस घटना ने भारत के राष्ट्रवादी नेताओं की विचारधाराओं को प्रभावित किया। फलतः उनकी नीति भी परिवर्तित हुई। जवाहरलाल नेहरू और राजा जी इस पक्ष में थे कि इस शर्त पर सरकार से समझौता किया जाय कि देश में उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार बने। इसका समर्थन कांग्रेस कार्य समिति ने भी किया।

सन् १९४२ के शुरू में श्री और श्रीमती मार्शल च्यांग काई-शेक भारत आये और एक साथ ही ब्रिटेन और भारत से शत्रुओं का विरोध करने की मार्मिक अपील की। साम्राज्यवादी शक्ति जापानी विजय से आक्रान्त हो गयी। मित्र राष्ट्रों की स्थिति खतरे से पूर्ण थी। सबसे बड़ा प्रश्न था एक होकर युद्ध करने का इसलिए चर्चिल सरकार भी सहयोग की दिशा में अग्रसर हुई।

क्रिप्स का भारत आगमन

स्टैफर्डक्रिप्स के राजनीतिक मिशन पर भारत आने की घोषणा मार्च, सन् १९४२ में हुई। चर्चिल ने युद्धोपरान्त भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने की घोषणा अपने हॉउस ऑव् कामन्स के वक्तव्य में की थी। जापान का कब्जा, तब तक सिंगापुर, जावा और बर्मा पर हो गया था।

क्रिप्स भारत में कई बार आ चुके थे। मिशन का भारत में स्वागत ही हुआ। २३ मार्च को भारत में आकर वे लम्बे वार्तालापों आदि में समय नष्ट नहीं कर अन्तिम राजनीतिक समझौता करना चाहते थे। २५ मार्च को सभी दलों के सदस्यों से मन्त्रणा कर २९ मार्च को उन्होंने घोषणा की कि वे भारत में संघीय शासन के हामी हैं जो गृह तथा परराष्ट्र के क्षेत्र में स्वतन्त्र रहकर सम्राट् के प्रति भक्ति प्रकट करते हुए अन्य उपनिवेशों की तरह रहे। इसके लिए सम्पूर्ण बैर-विरोध को समाप्त कर एक निर्वाचित संस्था के द्वारा भारत के लिए नया विधान बनाने की योजना थी। विधान-निर्माण में देशी रियासतों के सम्मिलित होने की भी बात थी। भारत को कॉमन वेल्थ के साथ अपने सम्बन्धों के निर्णय का भी अधिकार मिला था। युद्धकाल में सुरक्षा का अधिकार सम्राट् को दिया गया था। क्रिप्स सुरक्षा का पद सभी दलों के बहुमत के बावजूद भारत को नहीं सौंपना चाहते थे। प्रान्तों का संघ में सम्मिलित होना उनकी इच्छा पर था।

डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार क्रिप्स का प्रस्ताव अनेक रुचियों के तोष के लिए अनेक प्रस्तावों से संयुक्त था। मुसलमानों और देशी रियासतों को भी उसमें सन्तोष देने का प्रयत्न था। कांग्रेस की इस माँग को क्रिप्स ने कोई आश्वासन नहीं दिया कि वह स्वतन्त्रता तथा विधान निर्मातृ परिषद् चाहता है। इसीलिए क्रिप्स मिशन सफल नहीं हुआ। सत्ता हस्तान्तरण की निश्चित तिथि बताने में वे असमर्थ थे। कांग्रेस जल्द-से-जल्द सत्ता हस्तान्तरण की इच्छुक थी। लीग भी पाकिस्तान-जैसी कोई चीज नहीं मिलने से अप्रसन्न थी। अन्त में ११ अप्रैल को घोषणा हुई कि क्रिप्स प्रस्ताव वापस ले लिया गया।

भारत छोड़ो प्रस्ताव

क्रिप्स ने सन् १९४२ की २७ जुलाई को एक ब्राडकास्ट में कहा कि कांग्रेस की माँग को स्वीकृत करने का अर्थ है—मुसलमानों और दलित वर्गों पर हिन्दू शासन की स्थापना। यह भी कहा कि गांधी जी चाहते हैं कि अंग्रेज भारत को अशान्त स्थिति में ही छोड़कर चले जायँ। स्वतन्त्रता के लिए अधिकाधिक दवाव देने के धमकी की बात भी कही। प्रतिक्रिया स्वरूप ८ अगस्त को कांग्रेस का 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव आया। अंग्रेजों से साम्राज्यवाद छोड़ने और युद्ध जीतने की माँग कांग्रेस ने की। टोरी सरकार इस प्रस्ताव से सहमत नहीं थी। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय माँग की पूर्ति के लिए कांग्रेस सम्पूर्ण अहिंसात्मक कार्यों के द्वारा अपने बल का परिचय देने के लिए बाध्य थी। गांधीवाद के इस रुख को अंग्रेजी सरकार ने पूर्णतः नहीं समझा। भारत की स्वतन्त्रता को उसने नहीं स्वीकारा। इस समय कांग्रेस भी 'करो या मरो' का सिद्धान्त अपनाये थी। उसे विश्वास नहीं था कि युद्ध साम्राज्यवादी शोषण की समाप्ति के लिए हो रहा है। अतः प्रत्येक परिस्थिति में वह विरोध के लिए तत्पर थी।

सरकारी कार्य भी जारी था। उसने बम्बई में ९ अगस्त को सभी नेताओं को कैद कर लिया। इस अचानक कैद से लोग क्रुद्ध होकर बौखला उठे। आन्दोलन हिंसात्मक हो गया। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों के अतिरिक्त सभी कांग्रेसी इस आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। इस आन्दोलन में, सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार, २५० स्टेशन, ५०० डाकघर और १५० थाने नष्ट किये गये। रेलों का आना-जाना बिहार और पूर्वी यू० पी० में कई सप्ताह बन्द रहा। टाटा आयरन एण्ड स्टील वर्क्स के १० हजार मजदूरों ने इस माँग की पूर्ति के लिए हड़ताल की कि व्यवस्थापक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा करें। कई स्थानों पर मजदूरों ने हड़तालें की।

राष्ट्रीय सरकार की स्थापना मिदनापुर और सतारा जिले में हुई। समाजवादी दल ने गुप्त रूप से विद्रोहात्मक कार्य, जयप्रकाशनारायण के नेतृत्व में आरम्भ किया।

नौकरशाही ने व्यापारियों की सहायता से चीजों का कृत्रिम अभाव उत्पन्न किया।

व्यापारियों के लोभ ने उन्हें सुनहला अवसर दिया। सन् १९४३-४४ में बंगाल के भयानक अकाल में १५ से २० लाख तक व्यक्ति मरे।

धुरी राष्ट्रों से हारने के कारण ब्रिटिश सरकार तिलमिला उठी और कांग्रेस पर नाजियों से गठबन्धन का आरोप लगाया। अंग्रेजों और अमेरिकियों की दृष्टि में भारतीय राष्ट्रीयता को हेय और निकृष्ट सिद्ध करने के लिए उसने यह गलत प्रचार किया। नाजियों से महात्मा गांधी कभी भी प्रभावित नहीं हुए। युद्ध आरम्भ होने से पहले हिटलर के नाम एक पत्र में उन्होंने कहा था कि युद्ध शुरू होना हिटलर की सबसे बड़ी भूल होगी। जापान का युद्ध में आना भी उनकी दृष्टि में अक्षम्य गलती थी। जापानी सेना से सामना करने के लिए अमेरिका और इंगलैण्ड से फौजी सहायता का भारत में आना वे पसन्द नहीं करते थे पर भारत में अंग्रेज रहें, वे यह भी नहीं चाहते थे क्योंकि उनकी उपस्थिति से जापान भारत पर आक्रमण करने को उत्साहित हो रहा था।

धुरी राष्ट्रों की सहायता भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं को पसन्द नहीं थी, क्योंकि इसका अर्थ था नये साम्राज्यवाद के चंगुल में फँसना।

जापान सन् १९४१ के दिसम्बर में विश्वयुद्ध में सम्मिलित हुआ। उस समय मलाया में साठ हजार की भारतीय सेना अमेरिकी, आस्ट्रेलियन और अंग्रेजी टुकड़ियों के अन्तर्गत थी। भारतीय सेना मन से जापानियो का विरोध नहीं कर रही थी, क्योंकि वेतन और सुविधाओं में विभेद था। यही कारण है कि सुदूरपूर्व में जापान इतनी तीव्रता से प्रगति कर सका।

भारतीय राष्ट्रीय सेना का गठन

इन्हीं दिनों प्रसिद्ध और पुराने क्रान्तिकारी रासविहारी बोस जापान में देश-निर्वासितों-सी सजा भोग रहे थे। उन्होंने जापानी अधिकारियों के समक्ष एक प्रस्ताव रक्खा, जिसमें भारतीय युद्ध-कैदियों की एक देशभक्त सेना बनाने का प्रस्ताव था। जापानियों ने इस प्रस्ताव की स्वीकृति दी और सितम्बर सन् १९४२ में भारतीय राष्ट्रीय सेना का गठन हुआ। इस सेना में जावा, मलाया, बर्मा आदि में रहनेवाले अनेक नागरिक भर्ती हुए।

जनवरी सन् १९४१ में सुभाषचन्द्र बोस जेल से भागे और अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुँचे। फिर जापान गये और जुलाई सन् १९४३ में भारतीय राष्ट्रीय सेना में सम्मिलित हो गये। बोस के निर्देशन में यह सेना उच्चकोटि की चतुर सेना बनी। उन्होंने कहा कि हर देश का इतिहास यही घोषित करता है कि विदेशी सहायता के बिना किसी देश की जनता स्वराज्य नहीं पाती। अतः हमें भी ब्रिटिश साम्राज्य के शत्रुओं की सहायता पाने में संकोच की आवश्यकता नहीं।

उन्होंने कहा कि वे आराम कुर्सीवाले नेता नहीं हैं जो संघर्ष से भागकर समझौता करते हैं। वे आत्मसम्मान, प्रतिष्ठा या देश के स्वार्थ के इच्छुक थे। अतः उन्होंने

प्राणों की परवाह न कर राष्ट्र के लिए यह किया। उनके निर्देशन में भारतीय राष्ट्रीय सेना सन् १९४३ तक लड़ती रही।

भारत में व्याप्त राजनीतिक गतिरोध में कमी नहीं हुई, यद्यपि महात्मा गांधी सन् १९४४ के मध्य में कैद से मुक्त कर दिये गये थे। अन्य कांग्रेसी नेता भी जून सन् १९४५ में रिहा हो गये थे। जवाहरलाल नेहरू ने 'अदम्य उत्साह और सक्रियता के लिए भारतीय जनता की प्रशंसा की। सरदार पटेल भारत छोड़ो के नारे से आगे जाकर 'एशिया छोड़ो' तक पहुँचे। अराष्ट्रीय तथा आन्दोलन विरोधी कामों के लिए साम्य-वादी निन्दित हुए।

जून सन् १९४५ में युद्ध खत्म हुआ और भारतीय राष्ट्रीय सेना के कैदियों को भारत में लाया गया। कांग्रेस ने उनके छुटकारे के लिए आन्दोलन आरम्भ किया। इन कैदियों की सुरक्षा के लिए जवाहरलाल भी तत्पर हुए। इन वन्दियों का मुकदमा दिल्ली के लाल किले में देखा जा रहा था। वह किला राष्ट्रीय जागरूकता का प्रतीक वन गया। सन् १९४५ में सुभाषचन्द्र बोसकी मृत्यु विमान-दुर्घटना में होने की खबर से सारे देश में शोक की लहर फैल गयी। सुभाषचन्द्र वोस विद्रोह में सफल नहीं हो सके किन्तु उन्होंने युद्धोत्तर काल में राष्ट्रीय चेतना में अपूर्व शक्तिका संचार किया जिससे भारतीय स्वतन्त्रता का सपना सत्य के बहुत निकट आ गया[1]।

युद्ध समाप्ति के बाद ब्रिटेन में समाजवादी प्रभाव अधिक और टोरी दल का प्रभाव कम होने लगा। अतः मजदूर दल लोकप्रिय होता गया। कारण, उसने स्वतन्त्रता और वन्धुत्व के आधार पर साम्राज्य के गठन की योजना प्रस्तुत की। उसकी बढ़ती शक्ति से टोरी दल घबरा गया था। ब्रिटिश मतदाताओं की दृष्टि में भारतीय नेताओं को हेय सिद्ध करने की चेष्टाएँ थीं, क्योंकि इससे भारत से सम्बन्धित उसके कार्यों को मान्यता मिल जाती। इसलिए वह भारत की उलझी परिस्थितियों को सुलझाने के लिए नये प्रस्तावोंकी ओर सचेष्ट हुई। १४ जून सन् १९४५ को लार्ड वावेल ने एक नये प्रस्ताव की घोषणा की और २५ जून को शिमला में एक कान्फ्रेन्स का आयोजन किया, जिसमें कांग्रेस मन्त्रिमण्डल के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री, नेताओं, मुस्लिम लीग, दलित जाति और सिखों के नेताओं को निमन्त्रित किया गया।

मुस्लिम लीग द्वारा अलग पाकिस्तान की माँग

मुस्लिम लीग ने इस समय पुनः अलग पाकिस्तान की माँग की, लेकिन शिमला कान्फ्रेन्स में कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं हो सकी, क्योंकि जिन्ना अन्तरिम सरकार वनाने के पक्ष में तभी थे जब मुस्लिम जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया गया। वाइसराय ने कहा कि अन्तरिम सरकार में शामिल होने से पाकिस्तान की माँग पर कोई आँच नहीं आती। तब उन्होंने कहा कि मुसलमान सदस्य भी एक तिहाई के वदले हिन्दुओं के वरावर रहेंगे। इसका समाधान होने पर उन्होंने कौंसिल में सभी सदस्यों को

१. लीडरशिप एण्ड पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स आव् इण्डिया—पार्क और टिंकर, पृ० ८४।

मनोनीत करने का प्रस्ताव रखा। पर वाइसराय ने इसे स्वीकृत नहीं किया, क्योंकि कांग्रेस और खिजहयात खाँ इसके विरोधी थे। इस प्रकार ब्रिटिश प्रतिक्रियावादियों द्वारा आयोजित धोखाधड़ी समाप्त हो गयी। शिमला कान्फ्रेन्स सफल न हो सकी।

सन् १९४५ के मध्य में ब्रिटेन में मजदूर दल की स्थापना से भारत-ब्रिटेन सम्बन्ध में अधिक सद्‌भावना आयी। एटली ने वावेल से परामर्श किया और वहाँ से लौटकर उन्होंने सन् १९४५-४६ में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओं के निर्वाचन की घोषणा की। उन्होंने यह भी बताया कि सम्राट् भारत के लिए एक विधान निर्मातृ संस्था निर्वाचन के बाद निर्मित करने के इच्छुक हैं।

सभी ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया तथा भारतीय जनता का मजदूर दलीय सरकार की सद्‌भावनाओं पर विश्वास बढ़ने लगा। ब्रिटिश सरकार भारत को स्वतन्त्रता देने का निश्चय कर चुकी है, यह घोषणा पैथिक लारेन्स ने की। यह भी कहा कि निर्वाचनोपरान्त संयुक्त सरकार बनायेंगे। इस चुनाव में कांग्रेस ने सिंध, बंगाल और पंजाब के अतिरिक्त सभी जगह बहुमत प्राप्त किया और उसकी सरकारें बनीं।

सन् १९४६ का वर्ष राजनीतिक घटनाओं से परिपूर्ण रहा। विधान-निर्माण के आधार के लिए प्रबन्ध करने और अन्तरिम सरकार बनाने के लिए २३ मार्च, सन् १९४६ को कैबिनेट डेलीगेशन भारत आया। लीग के द्वारा पाकिस्तान की माँग करने और उसे प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष कारवाई करने के निश्चय के कारण मिशन का काम बहुत कठिन हो गया। लीग ने मुसलमानों के लिए पृथक प्रभुसत्ता राज्य और विधान निर्मातृ परिषद् की माँग की। इस स्थिति में ही वह अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने को तैयार थी।

अन्तरिम सरकार का निर्माण

१ अप्रैल से १७ अप्रैल तक विभिन्न दल के नेताओं से कैबिनेट मिशन ने परामर्श कर ईमानदारी से दोनों सम्प्रदायों में सुलह कराने का प्रयत्न किया। लीग बटवारे पर कटिबद्ध थी। मिशन इस प्रस्ताव को उचित नहीं समझता था। उसके अनुसार यह अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान नहीं था। इससे देश में अशान्ति बढ़ने की सम्भावना थी।

अन्ततः मिशन द्वारा संयुक्त संघ सरकार के अन्तर्गत हिन्दू इकाई और मुस्लिम इकाई राज्यों का प्रस्ताव उपस्थित किया गया। साम्प्रदायिक समस्याओं के समाधान की व्यवस्था भी उसमें की गयी। दोनों जातियों में एकता लाने की कोशिश उसके द्वारा हुई।

लीग ने पाकिस्तान लेने के वैधानिक तरीके को त्याग कर २९ जुलाई सन् १९४६ को प्रत्यक्ष कार्य का प्रारम्भ किया। इस प्रत्यक्ष कार्य का आरम्भ कलकत्ते में हुआ और नोआखाली में फैल गया। बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू मुसलमान इसमें मरे।

मन्त्रिमण्डल निर्माण के लिए कांग्रेस प्रस्तुत हो गयी और ४ अगस्त को मन्त्रियों के

नामों की घोषणा लार्ड वावेल ने की। २ सितम्बर सन् १९४६ को कांग्रेस के ७ सदस्य अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुए। लीग भी अक्तूबर के अन्तिम सप्ताह में इसमें सम्मिलित हुई। लार्ड वावेल का रवैया ठीक नहीं था। इसलिए अन्तरिम सरकार निष्क्रियता की ओर अग्रसर होती गयी।

मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों को एटली ने दिसम्बर, सन् १९४६ में लन्दन में निमन्त्रित किया। तीन दिनों के विचार-विमर्श के बावजूद वे किसी निष्कर्ष पर नहीं आ सके। लन्दन कान्फ्रेन्स में भारतीय राष्ट्रीयता ने भारतीय एकता की अन्तिम लड़ाई लड़ी, पर हार गयी।

सन् १९४६ की दिसम्बर को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह अल्पसंख्यकों पर कोई विधान लादना नहीं चाहती। इससे विधान निर्मातृ सभा की काररवाई में गतिरोध पैदा हो गया।

कलकत्ते में दंगा आरम्भ हो गया। प्रतिक्रियास्वरूप अन्य भागों में भी साम्प्रदायिक दंगा फूटा। लीग की काररवाई से पंजाब में सरकार का कार्य मार्च-अप्रैल सन् १९४७ में बन्द हो गया। साम्प्रदायिक दंगे से पूरा प्रान्त छिन्न-भिन्न हो गया।

ब्रिटिश सरकार ने २० फरवरी, सन् १९४७ को घोषणा की कि वह जून, सन् १९४८ के पहले ही भारत को सत्ता हस्तान्तरित करने की इच्छुक है। सरकार द्वारा लिये इस निर्णय पर गांधीजी खुश थे।

लार्ड माउण्ट बैटेन का आगमन

२३ मार्च सन्१९४७ को लार्ड माउण्ट बैटेन भारत आये। पाकिस्तान की माँग को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। लार्ड माउण्ट बैटेन ने १५ अगस्त सन् १९४७ के पहले ही भारतीयों को सत्ता सौंपने और भारत के हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में विभाजित करने की घोषणा की। बंगाल और पंजाब के मुस्लिम बहुल क्षेत्र को पाकिस्तान को देने के लिए सीमा-कमीशन की नियुक्ति हुई।

विभाजन महात्मा गांधीको पसन्द नहीं था पर नेहरू और पटेल माउण्ट बैटेन के प्रस्ताव पर स्वीकृति प्रकट कर चुके थे। १४ अगस्त को भारत विभाजित हो गया और १५ अगस्त, सन् १९४७ को दो भागों में बँट गया और वह औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त कर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत एक देश बना, क्योंकि प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य का गौरव इसे नहीं प्राप्त हो सका था। उस समय भारत पूर्ण अधिकार प्राप्त उपनिवेश ही रहा। भारत की समस्याएँ अब भिन्न हो गयीं। अब उसकी समस्या विदेशी शासक से संघर्ष की नहीं बल्कि अपनी आर्थिक दशा सुधारने और विकास से सम्बद्ध थी।

भारत के समक्ष विदेशियों के भारत छोड़ने और स्वतन्त्रता प्राप्ति के कारण अनेक विषम परिस्थितियाँ उपस्थित थीं। देशी रियासतों की समस्या प्रमुख थी। ये रियासतें स्वतन्त्र थीं और इच्छानुसार हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में मिल सकती थीं। कई देशी

राजा स्वतन्त्र राज्य बनाकर दिल्ली पर अधिकार करने की सोचते थे। इन सब कारणों से भारत के सामने यह महत्त्वपूर्ण समस्या थी कि इन देशी रियासतों का भारत में विलयन कर एक सुसंघटित राज्य की स्थापना की जाय। अन्ततः सरदार पटेल के प्रयत्न से सभी देशी रियासतों का विलयन भारत में हुआ।

कश्मीर का विलयन

कश्मीर का विलयन अभी नहीं हुआ। पाकिस्तान उसे हथियाना चाहता था। कश्मीर भारत या पाकिस्तान में विलयन के पहले सोचना समझना चाहता था। पर उत्तरी-पश्चिमी सीमा के कबालियों ने पाकिस्तानी सैनिक अफसरों के नेतृत्व में कश्मीर पर हमला कर दिया। अक्तूबर, सन् १९४७ में स्थिति अत्यधिक गम्भीर हो गयी, क्योंकि लूट पाट करते हुए आक्रमणकारी अब कश्मीर की राजधानी श्रीनगर तक पहुँचने ही वाले थे। इसी समय कश्मीर महाराज ने भारत से सैनिक-सहायता माँगी और भारत में कश्मीर के विलयन के पत्र पर हस्ताक्षर किये। भारतीय सेना कश्मीर पहुँची। कश्मीर के जन-नेताओं ने भी महाराजा के विलयन सम्बन्धी कार्यों को स्वीकृति दी। भारत की इच्छा थी कि कश्मीरी जनता स्वयं बाहरी प्रभावों से मुक्त होकर, यह निर्णय दे कि वह पाकिस्तान के साथ रहना चाहेगी या भारत के साथ। ३१ दिसम्बर को कश्मीर का मामला सुरक्षा परिषद् में भारत ने उपस्थित किया। उसमें पाकिस्तान पर, भारत पर आक्रमण का आरोप लगाया गया था, क्योंकि भारत में कश्मीर विलय हो चुका था और इसलिए वह भारत का एक अंग था। सुलह के लिए कई प्रयत्न हुए और अन्त में जनवरी सन् १९४९ मे शान्ति-सीमा रेखा स्थापित हुई। कश्मीर के उस हिस्से को 'आजाद कश्मीर' कहा जाने लगा, जिस पर पाकिस्तान ने अधिकार कर लिया था। अभी तक कश्मीर समस्या का समाधान नहीं हो सका है।

हैदराबाद और जूनागढ़ की रियासतें

हैदराबाद और जूनागढ़ की रियासतें भी रोचक ढंग से भारत में मिलीं। हैदराबाद निजाम के शासन में था। यह रियासत भारत के मध्य में स्थित थी। कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण भी थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही एक अल्पसंख्यक राजनीतिक दल ने निजाम को स्वतन्त्र बनाये रखने का लोभ दिखाकर अपने हाथ का खिलौना बना लिया। इस दल के कहे में पड़कर निजाम ने जनता और राष्ट्रीय व्यक्तियों पर अनेक अत्याचार किये, कराये। जनता पहले तो सहन करती रही लेकिन धीरे-धीरे विद्रोह प्रज्वलित होता रहा और हैदराबाद में अशान्ति फैलती गयी। सरदार पटेल ने पहले शान्ति के साथ इस समस्या के समाधान का प्रयत्न किया, लकिन निजाम अपने हठ पर रहे। अन्ततः सितम्बर सन् १९४८ में भारत ने सेना द्वारा कुछ दिनों में हैदराबाद को अधिकृत कर लिया।

जूनागढ़ सौराष्ट्र में है। वहाँ का शासक नवाब था। उसकी स्थिति इस तरह की थी कि वह भारत के अतिरिक्त और किसी में नहीं मिल सकता था, पर बाहरी दबाव

के कारण उसने पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा की। यहाँ की जनता ने नवाब के इस निरंकुश निर्णय का विरोध किया और एक प्रबल आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन की वजह से नवाब को भागकर पाकिस्तान में शरण लेनी पड़ी। तत्पश्चात् वहाँ एक कामचलाऊ सरकार बनी। उसने भारत सरकार से जूनागढ़ का शासन अपने हाथ में ले लेने की प्रार्थना की और इस प्रकार जूनागढ़ भारत में सम्मिलित हो गया।

भारत के संविधान का निर्माण

स्वतन्त्र भारत के संविधान-निर्माण की समस्या भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। इस कार्य के लिए सन् १९४६ के दिसम्बर महीने में ही विधान सभा का संघटन हुआ था। इस सभा की प्रारूप समिति ने फरवरी, सन्१९४८ में संविधान का प्रारूप प्रकाशित किया तथा नवम्बर, सन् १९४८ में विचार-विमर्श के लिए उसे संविधान सभा में उपस्थित किया गया। २६ नवम्बर सन् १९४९ को संविधान सभा ने अन्तिम रूप से भारत का संविधान स्वीकृत किया और २६ जनवरी सन्१९५६ से वह लागू किया गया। इसके अनुसार अब भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया और औपनिवेशिक पूर्ण अधिकार प्राप्त राज्य की स्थिति समाप्त हो गयी।

भारत अभी तक ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा, यद्यपि वह सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्बद्ध गणराज्य घोषित हो चुका था। अब राष्ट्रमण्डल के साथ उसके सम्बन्ध के आधार में परिवर्तन की अपेक्षा हुई और २७ अप्रैल, सन् १९४९ को इस सम्बन्ध में एक सरकारी विज्ञप्ति हुई, जिसके अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में से ब्रिटिश शब्द हटा दिया गया। १७ मई, सन् १९४९ ई० को भारत की संविधान सभा द्वारा भी इस घोषणा को स्वीकृति मिली। इस प्रकार भारत स्वतन्त्र रहकर भी राष्ट्रमण्डल का एक सदस्य बना हुआ है।

स्वतन्त्रता के साथ ही भारत के सम्मुख शरणार्थियों की समस्या भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या के रूप में उपस्थित हुई थी। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के दंगों में अपना सब कुछ गँवा कर भारत लौटने वाले लाखों शरणार्थी थे। अब इनके पुनर्वास की भयानक समस्या आ खड़ी हुई। कारण, भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। किसी प्रकार धीरे-धीरे कई वर्षों में इस समस्या का समाधान भी हुआ।

इन अनेक समस्याओं के समाधान के साथ ही भारत ने अपनी शक्तियों का विकास भी किया और वह एशिया का प्रमुख राष्ट्र बन गया। सन् १९४९ में स्थापित चीनी गण-राज्य का भी भारत ने हार्दिक स्वागत किया। विश्व की अन्य समस्याओं में भी भारत ने रुचि रखी और उसकी नीति शान्ति की नीति रही है।

सामाजिक पृष्ठाधार

राजनीतिक परिस्थितियों की तरह सामाजिक परिस्थितियाँ भी क्रान्ति भावना की उद्भावना में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। समाज जब पतनोन्मुख होता है, उसके प्राचीन

आदर्श जब कुरीतियों की सीमातक पहुँच जाते हैं, तब समाज के जागरूक व्यक्ति उन आदर्शों को खोखला समझकर नयी मान्यताओं को स्थापित करना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें प्राचीन आदर्शवादियों से संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष से विरोध उत्पन्न होता है। इन विरोधी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं से साहित्य भी अनुप्राणित होता है। क्रान्ति की भावनाएँ साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हो उठती हैं। इस परिप्रेक्ष्य में आलोच्यकाल की सामाजिक परिस्थितियों का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है।

वर्णाश्रम धर्म

अठारहवीं शताब्दी के भारतीय समाज में 'मनु द्वारा निर्धारित मार्ग वर्णाश्रम धर्म, संयुक्त कुटुम्ब प्रथा, छुआछूत, तीर्थ-यात्रा, विधवा विवाह-निषेध, बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती-प्रथा, बाल-हत्या, पर्दा, श्राद्ध, स्त्रियों की अशिक्षा आदि का प्रचार था[१]। 'समाज में ब्राह्मणों का बोलबाला था। निम्नवर्गीय तथा उच्चवर्गीय सभी व्यक्ति उन पर निर्भर रहते थे। राजनीतिक और आर्थिक अराजकता थी। फलस्वरूप रूढ़ियों का पालन और कट्टरता के साथ होता था। समाज में गतिशीलता नहीं थी।

अलंकरण प्रियता

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का भारतीय समाज प्रदर्शन-प्रिय था। अलंकरण की प्रवृत्ति शरीर से लेकर काव्य और कला तक में थी। साथ ही इस समय 'हिन्दुओं में तीव्र सार्वजनिक भावना थी और इस सम्बन्ध में वे उदारतापूर्वक धन व्यय करते और दूसरे व्यक्तियों को आश्रय देते थे[२]।'

समाज में संयुक्त कुटुम्ब प्रथा थी। एक कुटुम्ब में व्यवसाय आदि में अपनी पैतृक परम्परा को ही निबाहा जाता था। परिवार में एक व्यक्ति प्रधान होता था। उसके कथनानुसार ही सारी पारिवारिक व्यवस्था होती थी।

परिवार में नारी का स्थान मात्र घर और बच्चों की देखभाल करना ही था। मातृत्व उनका परम लक्ष्य था।

वर्ण-व्यवस्था

तत्कालीन समाज में वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त कठोर थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के अनेक छोटे-छोटे वर्ग हो गये थे। व्यवसाय के आधार पर इन वर्गों की उत्पत्ति हुई थी और इसे ईश्वरीय विधान माना जाने लगा था। अपना वर्ण छोड़कर कोई दूसरा वर्ण नहीं ग्रहण कर सकता था। अर्थात् जाति-पाँति अपनी चरमावस्था पर थी। इसके कारण अज्ञान, अन्याय, अत्याचार और अपमान को प्रश्रय मिल रहा था। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण सर्वोपरि थे। वे अपनी सुख-सुविधा के लिए मनमाना विधान रचते थे। शिक्षा का प्रचार इन्हीं तक था। अतः

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ३८।
२. वही, पृ० १०८।

धार्मिक और सामाजिक जीवन की बागडोर इन्हीं के हाथों थी। यहाँ तक कि शासन के अनेक महत्त्वपूर्ण पदों पर भी ये आसीन थे।

निम्न वर्ग सदियों से चली आ रही इस परम्परा में बुरी तरह जकड़ चुका था। सामाजिक यातना सहन करना उनका स्वभाव और संस्कार बन गया था। अतः उनमें विद्रोह की भावना पैदा ही नहीं होती थी। सवर्णों का व्यवहार हर तरह से, निम्न वर्णों के साथ, मानवोचित मापदण्डों के विरुद्ध रहता था, फिर भी उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो पाता था। हिन्दू समाज अपनी परम्पराओं के पालन में अत्यन्त कट्टर था। मुसलमान और अंग्रेज शासक भी हिन्दुओं को कोई नयी सामाजिक व्यवस्था की ओर उन्मुख नहीं कर सके। मृत्यु भय या आर्थिक प्रलोभन ही कभी-कभी हिन्दुओं को अपने धर्म से विमुख कर सकते थे। समाज-व्यवस्था धार्मिक बन्धनों से जकड़ी थी। अब अपनी जगह पर ज्यों-का-त्यों था।

बाल-विवाह

उस समय बाल-विवाह की प्रथा थी। अधिक से अधिक ९-१० वर्ष की होते ही कन्याओं का विवाह हो जाता था। वैसे तो ३-४ वर्ष की अवस्था में यह विवाह होता था। दहेज-प्रथा प्रचलित नहीं थीं, पर धूमधाम खूब होती थी। कभी-कभी वृद्धा विवाह भी होता था। समाज विधवा-विवाह की आज्ञा नहीं देता था। विधवा को कठोर नियन्त्रित जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

सती-प्रथा

आलोच्य कालीन हिन्दू-समाज में सती-प्रथा भी थी। कहीं-कहीं विधवा को सती होने के लिए लोग मजबूर करते थे, पर प्रत्येक विधवा के लिए यह आवश्यक नहीं था। हाँ, सती हो जाना गौरवपूर्ण अवश्य माना जाता था।

इतिहास-लेखकों का कहना है कि अकबर और अन्य मुसलमानों ने इसे बन्द करने की कोशिश की थी। इस प्रथा के विरुद्ध मरहठे भी थे। अंग्रेज शासक भी इस प्रथा को बन्द करना चाहते थे। लेकिन उन्होंने अधिक हस्तक्षेप इसलिए नहीं किया कि भारतीय जनता उसे अपने सामाजिक और धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप न समझे। हेस्टिंग्ज और वेलेजली के प्रयास निष्फल हुए थे।

राजा राममोहन राय

धीरे-धीरे उन्नीसवीं शती के द्वितीय दशाब्द तक पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होने के कारण बंगाल में ब्राह्मणों का स्थान पहले जैसा नहीं रहा। राजा राममोहन राय के विचारों से अनुप्राणित होकर लोगों ने सती-प्रथा के विरुद्ध आवाज उठायी। अन्त में जनमत से सहायता प्राप्त कर और क्वींस कालेज बनारस के पण्डितों से परामर्श कर ४ दिसम्बर सन् १८२९ के बंगाल रेग्यूलेशन १७ के द्वारा सती-प्रथा बिलकुल बन्द कर दी गयी। सन् १८३० में यह कानून मद्रास और बम्बई में भी लागू कर

दिया गया। १५ मई सन् १८३३ को अवध के नवाब ने भी अपने राज्य में यह प्रथा बन्द करा दी।

बाल-हत्या

तत्कालीन राजपूतों में बाल-हत्या की प्रथा थी। लड़कियों को जन्म लेते ही भूखे रखकर, गला घोंटकर या दूध के घड़े में डुबाकर मार डालते थे। अपने इस नृशंस कार्य को वे धर्म का आवरण दिया करते थे। वस्तुतः इसके मूल में रजपूती आन थी। तत्कालीन मुसलमान शासकों से अपनी बहू-बेटी की रक्षा करने के लिए, वे इस प्रथा का पालन करते थे और कुल-गर्व की रक्षा करते थे।

धीरे-धीरे यह प्रथा मिट रही थी। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक बहुत कम हो गयी थी। अंग्रेज शासकों ने विविध उपायों से इसे समाप्त करने का सफल प्रयत्न किया।

हिन्दू-समाज में खान-पान सम्बन्धी नियम भी कठोरता से पाले जाते थे। अन्य जाति द्वारा खाना छू जाने भर से अपवित्र हो जाता था।

पर्दा-प्रथा भयंकर रूप से थी। स्त्रियाँ अन्तःपुर की सम्पत्ति मात्र थीं। समुद्र-यात्रा निषिद्ध और धर्म के विरुद्ध थी।

दास-प्रथा

समाज में दास-प्रथा भी सन् १८४३ के पूर्व तक थी। दासों की खरीद-बिक्री होती थी। कभी-कभी कर्ज न चुका सकने के कारण लोग दास हो जाते थे। सन् १८४३ के ऐक्ट ५ द्वारा अंग्रेजी सरकार ने दास-प्रथा का अन्त किया।

इस प्रकार 'अंग्रेजी शासन स्थापित होने के समय और उसके अन्तर्गत हिन्दी प्रदेश का सामाजिक जीवन अनेक कट्टर, गतिहीन, रूढ़िबद्ध, असामाजिक और अनुदार, अन्ध-विश्वासों, कुरीतियों और कुप्रथाओं से भरा हुआ था। समाज उस तालाब की भाँति था जिसके जल की उन्मुक्त गति अवरुद्ध हो गयी थी और फलतः जिसका पानी सड़कर नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर रहा था[1]।'

स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज जड़ था। कम्पनी सरकार ने ईसाई पादरियों के कहने के बावजूद भारत की सामाजिक व्यवस्था को विद्रोह के भय से, हाथ नहीं लगाया। समाज में घुन लगा था। किसी नवीन रचनात्मक कार्य का अभाव था। परम्परा के खूँटे में बँधकर गत्यात्मकता नष्ट हो चुकी थी।

पर धीरे-धीरे हिन्दी भाषी, अंग्रेजों के माध्यम द्वारा, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आने लगे और परम्परा के विरुद्ध एक नये भविष्य की सूचना देने लगे।

युग-प्रवाह : भारतेन्दु युग

ब्रह्म-समाजकी स्थापना

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की अपेक्षा इस काल की सामाजिक परिस्थितियों में तीव्र परिवर्तन हुआ। वैसे पूर्वार्द्ध में भी कई धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन हुए

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० १२५।

थे, जिनके फलस्वरूप भारतीय समाज में सुधार एवं प्रगति की भावना विकसित हुई थी। सन् १८२८ में राजा राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना की। यद्यपि इसकी स्थापना में उनका मूल उद्देश्य हिन्दुओं को ईसाई बनने से बचाना था। पर धर्म के अतिरिक्त समाज पर भी इसका व्यापक प्रभाव पड़ा था। सामाजिक कार्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सती-प्रथा का उन्मूलन था। पुरुषों के बहु-विवाह का विरोध, स्त्रियों को जायदाद में हिस्सा मिलने, विधवा-विवाह, छुआछूत, स्त्री-शिक्षा का समर्थन भी राजा राममोहन राय ने किया। शिक्षा के लिए ब्रह्म-समाज की ओर से विद्यालय भी खोले गये। इन सब कार्यों का सूत्रपात १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही आरम्भ हो गया था। इनका प्रभाव हिन्दू-समाज पर पड़ रहा था। पर यह सब शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था।

आर्यसमाज की स्थापना

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक परिस्थिति तेजी से बदलने लगी। ब्रह्म-समाज का कार्य भी व्यापक हुआ और सन् १८७५ में दयानन्द सरस्वती द्वारा आर्य-समाज की स्थापना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। राजा राममोहन राय और दयानन्द दोनों के सुधारों की रूपरेखा एक-सी ही थी। विस्तारों में अवश्य विभिन्नता थी।

उस समय समाज में जातिगत वैमनस्य तथा अछूतों की समस्या बड़ी दयनीय थी। राजा राममोहन राय ने जाति-व्यवस्था को सुलझाने पर उतना ध्यान नहीं दिया था। उनका ध्यान कुलीन ब्राह्मणों के बहु-विवाह की प्रथा पर था। पर आर्य-समाज वैदिक धर्म पर आधारित था। अतः दयानन्द उपजातियों को हटाकर चारों वर्णों को कर्म के आधार पर पृथक् करना चाहते थे।

स्त्री सुधार की दिशा में

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्त्रियों की दशा भी अत्यन्त दयनीय थी। आर्य-समाज द्वारा स्त्रियों के सुधार की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। बाल-विवाह, बहु-विवाह, दहेज-प्रथा आदिका विरोध किया और भारतीय समाज को नवीन दृष्टि प्रदान की। समाज का ध्यान नये मूल्यों की ओर आकृष्ट किया। स्वामी दयानन्द की लड़ाई सभी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध थी।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का समाज-सुधार

सामाजिक सुधार की दिशा में किया गया श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कार्य भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने भारतीय परम्परावादी समाज में चेतना की नयी किरणें भरने के लिए कई संस्थाओं की स्थापना के द्वारा अन्तर्जातीय विवाह, मादक द्रव्य-निषेध, रात्रि पाठशालाओं का प्रचार किया। सन् १८७७ में स्पेशल मैरिज ऐक्ट पारित हुआ, जिससे अन्तर्जातीय विवाह का विधान बना। और जब सन् १८८५ में कांग्रेस

की स्थापना हुई तब भी सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा मिली और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति क्रान्ति की भावना अधिकाधिक प्रश्रय पाती गयी।

अंजुमन ए हिमायत ए इस्लाम की स्थापना

इधर मुसलमानों में सैयद अहमद ने सुधार का बीड़ा उठाया। सन् १८८५ में 'अंजुमन ए हिमायत ए इस्लाम' की लाहौर में स्थापना हुई जिसका उद्देश्य इस्लाम के विरुद्ध आक्षेपों का उत्तर देना और बालक-बालिकाओं के लिए उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना था[१]।' सन् १८९४ में नदवतुल-समाज की स्थापना द्वारा भी समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया गया। इसी समय के आसपास मद्रास में 'वेद-समाज', बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' और पञ्जाब में 'देव-समाज' की स्थापना हुई। सन् १८७५ में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना हुई। सभी संस्थाओं का उद्देश्य भारतीय समाज में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन करना था, भले ही इनका माध्यम अपनी प्राचीन संस्कृति का आधार लेना हो।

डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा ने इन सुधारों के प्रेरणा-स्रोतों की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि इन सामाजिक आन्दोलनों की प्रेरणा पश्चिम से ही आयी। पर साथ में यह कहना ठीक है कि इन आन्दोलनों की प्रगति अंग्रेजी प्रभाव के प्रसार के साथ-साथ ही हुई[२]।' इनके प्रेरणा स्रोत की सत्यता को छोड़, इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आंग्ल प्रभाव ने भारतीय समाज में एक नूतन सामाजिक चेतना का विकास किया, जिससे रूढ़िग्रस्त परम्पराओं का त्यागना आवश्यक-सा लगने लगा। प्राचीन मान्यताओं के प्रति अनास्था के रूप में स्पष्ट प्रभाव प्रकट हुआ। क्रमशः रूढ़ियाँ टूटने लगीं और नवीन मान्यताएँ स्वीकृत होती गयीं। संकीर्णता के विरुद्ध आवाजें उठने लगीं और समुद्र-यात्रा के निषेध का भी विरोध हुआ। पाश्चात्य प्रभाव से प्रेरित होकर भारतीय समाज ने विवेक के माध्यम से परम्पराओं का विश्लेषण किया और जो मान्यताएँ सारहीन प्रतीत हुईं, उनका तीव्र खण्डन किया जाने लगा।

सामाजिक सुधार के लिए सभी नवीन मान्यताओं का समर्थन रूढ़िग्रस्त समाज ने नहीं किया। नवीन सभ्यता से प्रभावित व्यक्तियों ने या तो इन सुधारों की यथार्थता स्वीकार की या भारतीय समाज के पुनर्गठन की आवश्यकता से सहमति प्रकट की, पर हिन्दू-समाज का एक पुरातन पन्थी वर्ग अपनी कट्टरता नहीं छोड़ सका और अन्त तक वह नयी मान्यताओं का विरोध करता रहा।

द्विवेदी युग : पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार

आलोच्य काल के सामाजिक क्षेत्र में युगान्तकारी क्रान्ति-भावना जाग्रत हुई। ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक खोखलापन को दूर करके पुनरुत्थान की जो भावना जाग्रत की थी, वह इस काल में और तीव्र

१. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत—केशरीनारायण शुक्ल, पृ० ४२।
२. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा, पृ० ४२।

हुई। सामाजिक मस्तिष्क को अपनी रुग्णता का भान हो गया था और उससे छूटने की इच्छा उसमें जाग्रत हो गयी थी। पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार हो चुका था और उससे भारतवासियों को अपनी सामाजिक जड़ता का बोध हुआ था। अतः वे परिवर्तन के लिए अग्रसर हुए और इस दिशा में उन्होंने क्रान्तिकारी कदम बढ़ाये। भारतेन्दु युग के कवियों की रचनाओं से भी उन्हें अद्भुत् प्रेरणा मिली।

नवीन सामाजिक मूल्यों की स्थापना

नवीन सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करनेवाली नवीन क्रान्तिकारी चेतना पुनरुत्थान और अभ्युत्थान की थी। परिणामस्वरूप वे मान्यताएँ खण्ड-खण्ड होकर बिखरने लगीं जो सामाजिक जीवन को जड़ बनाती थीं। विधवा-विवाह, अछूतोद्धार आदि की ओर आर्य-समाज ने भारतीय जनता को प्रेरित किया। अतः इनसे सम्बन्धित प्रतिबन्ध छिन्न भिन्न होने लगे और सामाजिक विद्रोह की प्रवृत्ति तीव्रतर होती गयी।

आलस्य, फूट, व्यभिचार, दम्भ, विलास, दुराचार आदि अनेक दुर्गुणों को सामाजिक जीवन की जर्जरता मानकर लोग त्यागने लगे। कर्मण्यता की आवश्यकता को भारत ने महसूस किया। अतः वह कर्मण्यता राजनीति के सामाजिक दिशा में भी फैली। जात-पाँत के बन्धन ढीले पड़ने लगे और हरिजनों को भी समाज में उचित स्थान देने की ओर लोगों का ध्यान गया। फूट का कुप्रभाव लोगों ने देखा और इसे दूर करने की चेष्टा प्रारम्भ हुई।

नारी-जागरण

इस युग की सामाजिक भावना के अभ्युत्थान की महान् क्रान्तिकारी चेतना नारी जागरण में द्रष्टव्य है। युगों से दलित भारतीय अबलाएँ सजग हुईं और उनके संगठन बने। नारी का क्षेत्र राजनीति-शिक्षा आदि भी हुआ। समानता की भावना भी जन्मी और विकसी। इस क्षेत्र में पाश्चात्य प्रवृत्तियों को पूर्णतः नहीं अपनाया गया। परतन्त्रता के बन्धनों को काटने की आकांक्षिणी नारियाँ क्रान्ति-कुमारियाँ बनीं। स्वदेशी आन्दोलन और सत्याग्रह आन्दोलन सदृश कामों में उन्होंने पुरुषों के साथ मिलकर भाग लिया। इस प्रकार अपने सामाजिक अधिकारों को समझने और अपनाने की आकांक्षा से प्रेरित नारी-जीवन में अप्रतिम क्रान्तिकारी परिवर्तन और क्रियाशीलता दृष्टिगत होती है।

संकीर्ण भावना का ह्रास हुआ और समुद्र-यात्रा का अवरोधन हटा। विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने का विरोध प्रारम्भ से ही उच्च वर्णों द्वारा होता गया।

जनवादी चेतना

इस युग में बुद्धिवाद से संयुक्त जनवादी चेतना का प्रभाव विशेष रूप से देखा जा सकता है। इस चेतना के द्वारा देश को सामाजिक खण्डित मूल्यों को त्यागने और समानता स्थापित करने की प्रेरणा मिली। इसी के फलस्वरूप नारी स्वतन्त्रता, अछूतो-

द्धार आदि आन्दोलन अधिक तीव्र हुए। देशोत्थान के लिए सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता के प्रति चेतना होने के कारण इस युग में अनेक परिवर्तन हुए।

छायावाद युग

द्विवेदी-युगीन सामाजिक परिस्थितियाँ अपनी समस्याओं के साथ ही इस युग में विकसित होती रहीं। क्रान्तिकारी-सुधार कार्य इस काल में भी गतिशील रहे। नारी-जागरण, अछूतोद्धार, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, जात-पाँत की कट्टरता आदि अनेक समस्याएँ राजनीतिक समस्या के साथ उभरती रहीं और उनके समाधान का भी अथक प्रयत्न होता रहा।

नारियों का सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश

इस युग की महत्त्वपूर्ण घटना नारी-जागृति है। यों तो नारी जागरण का आरम्भ द्विवेदी युग में ही हो चुका था पर ऐसी नारियों का अभाव था, जो सार्वजनिक क्षेत्र में काम करें। पर्दा-प्रथा की कट्टरता ने उन्हें इस दिशा में आगे बढ़ने से रोका था। इस काल में इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों ने भी पुरुषों के साथ हिस्सा लिया। शिक्षा के क्षेत्र में भी नारी-जगत में क्रान्ति हुई और अधिकाधिक संख्या में वे शिक्षा पाने लगीं। शिक्षित होने के साथ ही उनकी जड़ता, अज्ञान दूर होने लगा और वे समान अधिकार के लिए क्रान्तिकारी प्रयत्न करने लगीं।

नारी जागृति का एक कारण भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की एक मुख्य प्रवृत्ति जनतन्त्रात्मकता भी थी। इस प्रवृत्ति ने नारियों की अधिकार-चेतना को जाग्रत किया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव ने भी उन्हें चेतना दी, प्रेरित किया। इस दिशा में आर्य-समाज का कार्य प्रशंसनीय रहा।

अछूतोद्धार आन्दोलन

जात-पाँत मिटाने के लिए आर्य-समाज अछूतोद्धार के द्वारा एक लम्बी अवधि से संघर्ष कर रहा था, लेकिन इस प्रश्न को उतनी प्राथमिकता नहीं मिल पायी थी। उदारवादी हिन्दुओं द्वारा या तो इस समस्या को समर्थन मिला था या मिटा दिया गया था किन्तु दूसरी गोलमेज परिषद् में जब दलित वर्ग को पृथक् निर्वाचन देने का प्रश्न उठा तो हिन्दू चौकन्ने हुए। अल्पमत की रक्षा के नाम पर साम्राज्यवादी, हिन्दू जाति को भी दो खण्डों में बाँटकर पृथक कर देना चाहते थे। पूनापैक्ट के द्वारा गांधी जी ने इस समस्या का समाधान किया। उन्होंने हरिजनों को अधिक स्थान देकर, हिन्दू सम्प्रदाय को पृथक होने से बचा लिया। तत्पश्चात् कांग्रेस ने भी अछूतोद्धार आन्दोलन को अपना लिया। मन्दिरों के द्वार अछूतों के लिए खुले। उन्हें हरिजन संज्ञा से अभिहित कर गौरव दिया गया।

इस प्रकार इन सामाजिक क्रान्तियों से समाज में अनेक परिवर्तन होते गये।

जैसे-जैसे जनता सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक होती गयी, प्राचीन सामाजिक मूल्य, मान्यताएँ खण्डित होती गयीं और नवीन मूल्य स्थापित हुए।

प्रगतिवाद युग

अनेक कारणों से इस युग की सामाजिक परिस्थितियाँ पूर्व युग की ही रहीं, पर प्रगतिशील तत्त्वों के संयोग से उनमें तीव्रता आयी। जनता की सामाजिक चेतना रूढ़ियों, परम्पराओं और अंधविश्वासों से अधिकाधिक दूर हटती गयी, क्योंकि अब वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में सभी सामाजिक मूल्यों और मर्यादाओं का पुनर्मूल्यांकन होने लगा था। बौद्धिकता से प्रेरित होकर अब सभी सामाजिक सम्बन्धों में उपयोगिता की खोज होने लगी। पहले सामाजिक कुरीतियोंके प्रति अनास्था का भाव जगा तो था, पर उसके मूल में बौद्धिकता का आधार कम और धार्मिकता का आग्रह विशेष था।

सामाजिक रूढ़ियोंको छिन्न करने में राष्ट्रीय आन्दोलन की बढ़ती हुई शक्ति ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया और नवीन सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की। फलस्वरूप रूढ़ियाँ समाप्त होने लगीं और सामाजिक स्थितियों में समानता बढ़ने लगी। मानव-मानव को एक समझ कर, सभी को समान सामाजिक अधिकार दिये जाने लगे।

वर्ग चेतना

समाज का एक वर्ग बहुत पिछड़ा था। उच्च वर्ग इनका शोषक रहा था। वर्ग-चेतना ने इस दिशा में पिछड़ी जातियों को एक होने की प्रेरणा दी तथा उच्च वर्ग के शोषण वृत्ति के विरुद्ध बोलने का मौका दिया। इस प्रकार समाज के एक वर्ग ने दूसरे के विरुद्ध विद्रोह किया। पर इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं में बैर और द्वेष बढ़ने लगा और आर्थिक विषमता के आधार पर उगनेवाली वर्ग-चेतना सामाजिक विषमता के आधार को लेकर फूटी। इससे प्रगतिवादी तत्त्वों की क्षति हुई।

नारी-जागरण की गति इस काल में अत्यन्त तीव्र हुई। बहु विवाह, बाल विवाह, वृद्ध विवाह आदि के विरोध में स्वर और तेज हुए। विधवा विवाह को सामाजिक मान्यता दी गयी। पर इस समय दहेज प्रथा बढ़ने लगी और इसके विरोध में भी आवाज उठने लगी। नारी जीवन में समानता का आलम्बन लिया गया और इस दिशा में नारी-जाग्रति की चेतना अधिकाधिक बढ़ी।

जन चेतना का विकास

जन-चेतना इस युग में बहुत ही विकसित हुई। इसीलिए परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति तीव्र क्रान्ति हुई। कृषक वर्ग का जागरण भी इस समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। सन् १९३६ में अखिल भारतीय किसान सभा स्थापित हुई। अपनी समस्याओं के समाधान हेतु यह संगठन किसानों ने किया। स्वयं अपनी समस्याओं के समाधान के अतिरिक्त किसानों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भी योग दिया। मजदूरों की चेतना भयानक रूप से बढ़ी और उसने आन्दोलन का रूप ले लिया। पूँजीवाद से

कई-कई बार उनका संघर्ष हुआ। मजदूरों में एकता आयी। अपने हित के लिए वे संगठित हुए और अपने वर्ग की समस्याओं के समाधान के लिए सचेत रहे।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में देश की सामाजिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही जन-मानस का जागरण अत्यधिक होने लगा। लोगों ने समझा कि अब आर्थिक और सामजिक परिवर्तन का उपयुक्त समय है। पीड़ित वर्ग ने समानता के लिए अनेक आवाजें उठायीं। सरकार भी इस ओर चेतन हुई। सामाजिक रूढ़ियों में परिवर्तन के लिए सरकार ने विधानों का सहारा लेना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में प्रथम विधान अस्पृश्यता निवारण के लिए बना। इसके अनुसार अछूतों को सार्वजनिक स्थानों में जाने का वैधानिक अधिकार प्राप्त हुआ। फलस्वरूप उन अनेक मन्दिरों में हरिजनों का प्रवेश हुआ, जहाँ पहले उनकी छाया भी निषिद्ध थी। विश्वनाथ मन्दिर वाराणसी, वैद्यनाथ धाम आदि में हरिजनों का प्रवेश इसी विधानानुसार हो सका। लेकिन वैधानिक समानता मिल जाने पर भी जन-साधारण में उनके प्रति समानता की वैसी भावना नहीं उत्पन्न हो सकी। विधानसभाओं, नौकरियों आदि में भी पिछड़ी तथा अवन्य जातियों के लिए स्थान सुरक्षित किये गये। हरिजनों में शिक्षा-प्रचार के लिए भी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

हिन्दू कोड बिल

पाश्चात्य समाज व्यवस्था का अन्तरावलम्बन भी इस युग में हुआ और पाश्चात्य समाज-व्यवस्था के प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगे। इससे कई अभूतपूर्व परिवर्तन होने लगे। समाज में संयुक्त परिवार की प्रथा धीरे-धीरे टूटने लगी। जातीय कट्टरता का ह्रास होने लगा। अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ हुए। इससे प्राचीन समाज-व्यवस्था की रूढ़िवादिता खण्डित होने लगी। सरकार ने हिन्दू कोड बिल पारित किया। जिसके अनुसार प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष अपनी इच्छानुसार किसी भी जाति एवं गोत्र के व्यक्ति के साथ विवाह कर सकते हैं। इसी प्रकार निश्चित कारणों के आधार पर तलाक देने का अधिकार भी इस विधान में रक्खा गया। वैसे तलाक की प्रथा हिन्दू समाज के लिए सर्वथा नवीन नहीं, पर वर्तमान युग में उसे सरकारी अनुमति मिली और इस प्रकार समाज व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

नवीन विधान के अनुसार प्रत्येक बालिग को मताधिकार दिया गया। इसमें आर्थिक, लैंगिक, शैक्षणिक या किसी प्रकार के ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं है। अतः समानता का अधिकार देकर राजनीति के क्षेत्र में व्यक्ति को एक कर दिया गया। जनता को अपना शासक स्वयं निर्वाचित करने का गौरव मिला। सामाजिक जीवन में यह बहुत बड़ी क्रान्ति हुई।

मद्य-निषेध विधान भी बना। मादक द्रव्यों के निषेध के लिए सरकार द्वारा इनकी आपूर्ति पर नियन्त्रण रखा गया है।

इसी प्रकार बाल-अपराध रोकने, पतिता स्त्रियों के उद्धार, भीख माँगने आदि

कुरीतियों की ओर भी समाज और जनता का ध्यान आकृष्ट हुआ और इनके सुधार के लिए अनेक प्रयत्न होने लगे।

धार्मिक

मानव जीवन में निष्ठा और आचार-व्यवहार में धर्म का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विचार-परम्परा के निर्माण में धर्म का विशेष हाथ रहता है और विचार परम्परा के अनुसार आदर्श निर्मित होते हैं। अतः धार्मिक परिस्थितियों की, क्रान्ति के आचार मूलक संघटन में, महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भारत में यह विशेष द्रष्टव्य है, क्योंकि यहाँ धार्मिक आचार-विचार सामाजिक आचारों-विचारोंसे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे हैं। उनके बीच की विभाजन-रेखा खींचना कठिन है, अतः विचारों के निर्माण के कारणों को जानने के संदर्भ में धार्मिक परिस्थितियों का सिंहावलोकन अपेक्षित है।

अनेक धार्मिक सम्प्रदाय

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म अपने पूर्व रूप में चला आ रहा था। कोई नवीन आन्दोलन नहीं हुआ। धर्म के सभी प्रचलित रूपों का जन्म पहले ही हो गया था। हाँ, इस समय तक यह अपने मूल रूपों से बहुत कुछ सजीवता और सप्राणता त्याग कर विकारग्रस्त हो चुका था। धर्म के अनेक सम्प्रदाय थे। वैष्णव धर्म के अनेकों सम्प्रदायों के अतिरिक्त शैव धर्म, जैन धर्म आदि भी थे। इनकी भी विभिन्न शाखाएँ-उपशाखाएँ थीं। विभिन्न सम्प्रदायों में किंचित् प्रतिद्वन्द्विताएँ अवश्य रहती थीं, परन्तु उनके अनुगामियों में प्रतिद्वन्द्विता होती हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों की एक विशेषता यह है कि विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों में विभक्त रहने के बावजूद धार्मिक आस्थाओं में कुछ समानताएँ थीं। जैसे परब्रह्म में विश्वास, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, लोक-परलोक आदि। लोग असंख्य देवी-देवताओं को मानते थे। धार्मिक त्योहारों का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान था। धार्मिक मेला उत्सव आदि सामाजिकता के प्रसार में सहयोगी थे।

इन धार्मिक रीति-रिवाजों की संख्या बहुत अधिक थी। जीवन का क्षण-क्षण जैसे धर्म से बँधा था। इसके लिए पग-पग पर ब्राह्मणों की अपेक्षा रहा करती थी। स्वयं जनता शास्त्रों से अनभिज्ञ थी। अतः ब्राह्मण अपनी इच्छानुसार उन्हें नचाते थे। बहुधा ब्राह्मणों का शास्त्र-ज्ञान अधूरा और अवैज्ञानिक होता था। परिणामस्वरूप धीरे-धीरे जनता में अमानुषिक, अव्यावहारिक धार्मिक परम्पराएँ प्रविष्ट होती गयीं। हिन्दू समाज रूढ़ियों में फँसकर रह गया। देश-काल परिस्थितियों के अनुसार उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

अवांछित धर्माचार

समाज में अनेक अवांछित धर्माचार फैले थे। देवी-भवानी, पशु-पक्षी, वट-पीपल, आदि-आदि अनेक वस्तुओं की पूजा, भूत-प्रेतों में विश्वास, फकीरों दरवेशों आदि में

विश्वास इत्यादि अनेक ऐसे कृत्य थे, जिनके कारण हिन्दू समाज का पतन हो रहा था। 'वास्तव में समाज प्रत्येक धार्मिक कृत्य और रीति-रस्मका दैवी उत्पत्ति में विश्वास रखता था[१]।

साधु-यति क्रूर कर्मों में विश्वास रखते थे। तरह-तरह से शरीरको कष्ट देना स्वर्ग प्राप्ति का उपाय समझा जाता था। जनता ऐसे साधुओं की बातें नत-मस्तक होकर माना करती थी। साधुओं की संख्या बहुत अधिक थी। इनकी बहुत ही गहरी पैठ तत्कालीन सामाजिक, यहाँ तक कि राजनीतिक क्षेत्र में भी थी।

ईसाई धर्म का प्रसार

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पाश्चात्य शिक्षा आदिके प्रभाव से उच्चवंशीय हिन्दुओं ने धर्म के इस रूप की घोर निन्दा प्रारम्भ की। नवीन शासक भी उनके उद्देश्य से सहमत थे। बंगाल से होता हुआ यह प्रभाव हिन्दी प्रदेश में भी आया। पर साधारण जनसमाज पूर्ववत् ही बना रहा। अब ईसाइयों ने हिन्दू धर्म की कमजोरियों से लाभ उठाना प्रारम्भ किया। इस धर्म की ओर बहुत लोग आकृष्ट हुए। पर ईसाइयों को मनमानी सफलता नहीं मिली, क्योंकि धर्म-परिवर्तन करने पर भारतीयों को पैतृक जायदाद में हिस्सा नहीं मिलता था। अतः आर्थिक हानि के कारण लोग धर्म परिवर्तन करने में हिचकते थे।

युग-प्रवाह

भारतेन्दु युग : आर्य-समाज की स्थापना

इस युग में भारतवासियों को पाश्चात्य सभ्यता का पूर्ण बोध हो चुका था और इस बोध से उनमें पुनर्जागरण की चेतना भरने लगी थी। सन् १८५७ के वि ोह में सामूहिक रूप से पाश्चात्य विचारों के मूलोच्छेद का प्रयत्न दीखता है। जो इस संघर्ष का मूल कारण सांस्कृतिक और धार्मिक मानते हैं, वे इसमें भारतीयों की सफलता देखते हैं, क्योंकि इस विद्रोह के बाद पाश्चात्य प्रभाव के विरोध की सामूहिक भावना का सूत्रपात हुआ। बाद में महारानी विक्टोरिया के घोषणापत्र के प्रकाशन से भी धार्मिक रूढ़िवादियों को ही अधिक प्रोत्साहन मिला[२]। धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना इसके बाद से बलवती हुई, यह निश्चित है। तत्सम्बन्धी कई आन्दोलन हुए और अनेक संस्थाओं की स्थापना हुई। सन् १८५७ ई० में आर्य-समाज की स्थापना स्वामी दयानन्द सरस्वती ने की। आर्य-समाज ने युगानुकूल धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या का प्रयत्न किया। उसने वेदोत्तरकालीन हिन्दू-धर्म के पौराणिक रूप को त्याज्य बताया। पर वेदों में धर्म तथा विविध विज्ञानों के तत्त्वों का समावेश प्रमाणित किया। इस संस्था का रूप जनवादी था। इसमें शिक्षित-अशिक्षित या जात-पाँत का

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ९५।

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ४०।

भेदभाव नहीं था। इसने ईसाई और मुस्लिम दोनों के धर्म तथा संस्कृति का विरोध किया।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध का नवीन रूप

हिन्दू मुस्लिम सम्बन्ध सन् १८५७ के बाद एक नवीन रूप धारण कर चुका था। अंग्रेजी राज्य में हिन्दू धार्मिक रूप में जितने स्वतन्त्र थे, मुसलमानी राज्य में उतने नहीं। परिणामस्वरूप इस्लाम की प्रगतिशील गति को अवरुद्ध करने में हिन्दूधर्म सफल हुआ। हिन्दू संस्कृति पश्चिमी प्रभाव को भी नहीं स्वीकार कर सकती थी। ईसाई मिशनरी अपने धर्म-प्रचार के प्रयत्न में तेजी से जुटे थे। हिन्दुओंका चेतन वर्ग इसे रोकने के लिए प्रयत्नशील हुआ जिससे विरोध को बल मिला। कारण हिन्दू धर्म के नेताओं को पाश्चात्य नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव के कारण अपने धर्म का अस्तित्व ही खतरे में दीख रहा था। जिससे हिन्दू-धर्म ने स्वयं को और कठोर नियमों में बद्ध कर अपनी परम्पराओं की रक्षा की चेष्टा की।

यदि एक ओर हिन्दू-धर्म का एक वर्ग इस तरह कट्टरता में बँधकर धर्म का प्राचीन रूप सुरक्षित रखने की चेष्टा में था तो दूसरी ओर आंशिक पाश्चात्य प्रभाव से प्रेरित होकर, ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा अन्य संस्थाओं द्वारा धार्मिक कट्टरता, रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वास को समाप्त करने का आन्दोलन शुरू हुआ। इन्होंने छुआछूत, वर्ग-भेद आदि को मिटा कर, सब को एक सूत्र में बाँधने की और सांस्कृतिक दृष्टि से देश को एक करने की कोशिश की। इस काल में हिन्दू धर्म और संस्कृति पर इन संस्थाओं का बहुत गहरा असर पड़ा।

पाश्चात्य विचारों से अधिक अभिभूत होकर कुछ नवयुवक धार्मिक व्यवस्थाओं की अवहेलना भी करने लगे थे। यह दृष्टि हिन्दू-धर्म के लिए घातक थी। अतः हिन्दू-धर्म के समर्थकों ने पाश्चात्य धर्म और संस्कृति का घोर विरोध किया।

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना

मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अल्काट सन् १८७९ में भारत आये। उन्होंने थियोसोफिकल सोसाइटी को भारत में स्थापित किया। इस संस्था ने पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के मूल विचारों को अपनाकर धार्मिक मतमतान्तरों को समाप्त कर, पारस्परिक सहिष्णुता और सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया। भारतीय जन-मानस में नवीन चेतना भर कर उसके सांस्कृतिक अभ्युत्थान में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। सन् १८९३ में श्रीमती एनी बेसेण्ट भारत में आयीं। थियोसाफिकल सोसाइटी के प्रचार में इन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस संस्था के कार्य मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित थे और मानव जाति की उन्नति इसका ध्येय था। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी इसका महत्त्वपूर्ण कार्य रहा है।

इस काल को यदि धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का काल कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। कारण, यह काल कई-कई धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं की

स्थापना का काल है। इन संस्थाओं द्वारा जर्जर हिन्दू-धर्म के पुनर्जागरण का प्रयत्न हुआ। हिन्दू धर्म, जो सदियों से रूढ़िग्रस्त था, उसे परिष्कृत करने की आवाज इनके द्वारा उठायी गयी। साथ ही सामाजिक सुधारों की आधारभूमि भी इन्होंने तैयार की।

मुसलमान भी पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से अछूते नहीं बचे थे। परम्परावादी मुसलमानों को इस्लाम खतरे में दीख रहा था। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन था, मुसलमान अंग्रेजों को सहयोग देते थे। लेकिन उच्चवर्गीय मुसलमान अपने धर्म और संस्कृति पर अधिक ध्यान देते थे। पश्चिमी सभ्यता का बहिष्कार उन्होंने भी किया। इस युग में मुस्लिम वर्ग अपने राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक ह्रास से बहुत क्षुब्ध था। अतः आलोच्य काल के पूर्व ही मुसलमानों ने धार्मिक सुधार की ओर जो चेष्टाएँ आरम्भ की थीं, वे इस युग के प्रारम्भ तक चलती रहीं। सैयद अहमद ब्रेल्वी और इस्माइल हाजी मौलवी मुहम्मद सन् १८२० में मक्का यात्रा से लौटे। नवीन मुस्लिम धार्मिक विचारों से ये भरे थे। इन्होंने इस्लामी कुरीतियों को दूर करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया। सन् १८५७ के बाद तक यह आन्दोलन जारी रहा।

इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम दोनों वर्ग के लिए यह युग सुधारवादी क्रान्ति का युग था। धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों के द्वारा कुरीतियों एवं कट्टरताओं को मिटाने की चेष्टा हो रही थी।

द्विवेदी युग : साम्प्रदायिकता का जन्म

इस युग की धार्मिक परिस्थितियाँ साम्प्रदायिकता से ओतप्रोत रही हैं। आर्य-समाज हिन्दुत्व की भावना पर आधारित था। इसके धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक पुनरुत्थान की भावना में हिन्दुत्व का भाव ही प्रबल था। जवाहरलाल नेहरू ने आर्य-समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है 'आर्य-समाज इस्लाम और ईसाई धर्म के, विशेषतः इस्लाम के प्रभाव की प्रतिक्रिया था[१]।' मुसलमान भी आर्य-समाज के तीव्र प्रभाव को देखकर सचेत हो गये और अपने धर्म की ओर उनका ध्यान अधिक गया। उन्होंने भी धार्मिक संस्थाओं का संगठन प्रारम्भ किया। परिणाम-स्वरूप साम्प्रदायिकता की भावना विकसित होने लगी। दोनों वर्गों में खाई बढ़ती गयी।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध हिन्दू और मुसलमान दोनों वर्गों के पुनर्जागरण का काल है। वेद और प्राचीन सभ्यता की ओर ध्यान देकर हिन्दुओं ने वर्तमान से दूर रहने का प्रयत्न किया। इधर मुसलमानों ने कुरान और मक्का मदीना के ध्यान में अपने दुख को भुलाने की कोशिश की। आर्य-समाज के द्वारा हिन्दुओं ने, 'हिन्दुस्तान हिन्दुओं के लिए' की घोषणा की और मुसलमानों ने बृहत्तर इस्लाम के लिए कोशिशें

१. डिस्कवरी आव् इण्डिया—जवाहरलाल नेहरू, पृ० ३९८।

आरम्भ की फलतः मतभेद बढ़ता ही गया। सर सैयद अहमद खाँ कांग्रेस की स्थापना में देशद्रोह देखने लगे। इसीलिए उन्होंने मुसलमानों को कांग्रेस में सम्मिलित होने से रोका। हाली ने मुसद्दस में इस्लाम का गुणगान किया। 'बृहत्तर इस्लाम की कल्पना का पक्षी, साहित्य की भूमि पर उतरने के लिए, हाली की कविता में अपने डैने तोल रहा था[१]।'

सर सैयद अहमद को डर था कि कहीं इस्लाम सनातन धर्म का ही अनुवाद न बन जाय। इसलिए उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं से सम्पर्क बढ़ाने को मना किया था। उन्होंने मुसलमानों का नेतृत्व सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक दृष्टि से किया। मुसलमानों को राजभक्त होने की प्रेरणा दी और साम्प्रदायिक भावना को बढ़ाया।

बंग-भंग आन्दोलन मुख्यतः हिन्दू आन्दोलन था। इसमें हिन्दुओं का संगठन देखकर मुसलमान भी सचेत हुए। उन्होंने भी एक ऐसी राजनीतिक संस्था की आवश्यकता महसूस की, जो उनकी साम्प्रदायिक माँगों का माध्यम बन सके।

मुस्लिम लीग की स्थापना

अंग्रेजों ने अपने शासन की नींव फूट के आधार पर ही रक्खी थी। 'ब्रिटिश राजनीति ने यह समझ लिया था कि भारत की धर्म-प्रवण जनता पर तब तक शासन नहीं किया जा सकता, जब तक उसकी धार्मिक भावना और विश्वास को निर्बल न बनाया जाय[२]।' इसके लिए वे भारतीय जनता में फूट डालना भी आवश्यक मानते थे। उन्होंने मुसलमानों को हिन्दुओं के विरोध में उकसाना प्रारम्भ किया। 'धीरे-धीरे इस्लाम की विशिष्ट धार्मिकता ने भारतीयता की भावना नष्ट कर दी। मुसलमान अपने को उस इस्लामी बेड़े के मुसाफिर समझने लगे जो भारत में जाकर गङ्गा के नहाने में डूब गया[३]।' इधर अंग्रेज मुसलमानों को स्वतन्त्र संगठन के लिए बढ़ावा के साथ ही सहायता भी दे रहे थे। फलतः सन् १९०६ में आग़ा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों ने पृथक चुनाव की माँग की और दिसम्बर में मुसलिम लीग की स्थापना की। कुछ लोगों का विचार है कि इसके पीछे लार्ड मिण्टो की सहायता थी।

इसी युग में साहित्यिक क्षेत्र में इकबाल का आगमन हुआ। अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त साम्प्रदायिक इकाई का बीजमन्त्र उनके काव्य में फूटने लगा। मुसलमानों को विश्वास होने लगा कि साम्प्रदायिक इकाई, मात्र कल्पना नहीं। इसे सरकारी समर्थन भी तब मिल गया, जब मार्लेमिण्टो सुधार में धार्मिक पर राजनीतिक अल्पसंख्यकता मानी गयी तथा प्रतिनिधित्व का अधिकार अल्पसंख्यक मुसलमानों को दिया गया। पृथक् इकाई की भावना इससे बलवती हुई और पृथक प्रतिनिधित्व की माँग को सर सैयद अली इमाम की अध्यक्षता में सन् १९०८ में दुहराया गया।

---

१. पाकिस्तान के पीछे साहित्य की प्रेरणा—दिनकर, हिमालय, अक्तूबर, १९४६, पृ० ५।

२. उन्नीसवीं शताब्दी की पृष्ठभूमि—रामकुमार वर्मा। ३. वही।

रौलट ऐक्ट का विरोध

सन् १९१० में कांग्रेस द्वारा इसका विरोध हुआ। कांग्रेस को लार्ड हार्डिंग्ज की सहानुभूति प्राप्त थी। इसलिए मुसलमानों का जोश पहले जैसा नहीं रहा। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी राजभक्ति के अनुकूल नहीं थी, इससे मुसलमान निराश हुए। और 'स्वराज्य हमारा लक्ष्य है', यह घोषणा सन् १९१३ में मुसलिम लीग ने भी की। सन् १९१६ में कांग्रेस और लीग का समझौता हुआ। तब से धीरे-धीरे दोनों वर्ग एक-दूसरे के निकट आने लगे। सन्१९१९ में रौलट ऐक्ट के विरोध में हिन्दू और मुसलमान एक थे। दोनों जातियों की एकता एवं भ्रातृभाव का उल्लेख एक सरकारी रिपोर्ट में यों किया गया, 'सब लोग बड़े ही उत्तेजित थे। एक बात मार्के की दिखाई पड़ती थी। वह था हिन्दू-मुसलिम भ्रातृभाव। दोनों जातियों के नेता बस इसी एकता की रट लगाये हुए थे।......वह भ्रातृभाव का अद्भुत दृश्य था[1]।'

इन दोनों वर्गों (हिन्दू-मुसलिम) की इस साम्प्रदायिक भावना के अतिरिक्त इस काल में धार्मिक सुधारों की ओर से भी लोग बे-फिक्र नहीं थे। दोनों वर्गों में पुनरुत्थानवादी भावना थी। दोनों ने गौरवपूर्ण अतीत को जाना, समझा और उसके प्रकाश से वर्तमान को प्रकाशित करने की चेष्टा की। यदि एक ओर धार्मिक जड़ताओं को दूर करने की चेष्टा थी, तो दूसरी ओर कट्टरता भी पैदा हो रही थी। परिस्थितियों के अनुसार उसकी गति तीव्र और धीमी होती थी।

धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में बुद्धिवाद का अत्यधिक समावेश हुआ। यूरोपीय संस्कृति के प्रभाव से भारतीय संस्कृति में बुद्धिवाद का जोर बढ़ा। फलतः बुद्धिवाद के प्रकाश में अन्धविश्वास नष्ट होने लगा। परम्पराएँ ढहने लगीं। भारतीय जनता की दृष्टि परीक्षक की हो गयी। तर्क तथा ज्ञान द्वारा प्राचीन मूल्यों का सिंहावलोकन प्रारम्भ हुआ। फलतः नये जीवन-मूल्य विकसित हुए। जीवन के अन्य क्षेत्रों के साथ ही धार्मिक क्षेत्र में भी नये दृष्टिकोणों का विकास हुआ। बुद्धिवाद की प्रेरणा का स्रोत पाश्चात्य संस्कृति थी, पर साथ ही भारतीय सांस्कृतिक-धार्मिक संस्थाओं ने भी इस दिशा में प्रेरणा दी। आर्य-समाज और ब्रह्म समाज आदि बुद्धिवादी दृष्टिकोण से परिचालित थे। रवीन्द्र, विवेकानन्द, गांधी आदि ने इस युग को बौद्धिक चेतना प्रदान की। जीवन को नये मूल्यों से सम्पन्न किया। वेदान्त के अद्वैत दर्शन की नवीन व्याख्या करते हुए विवेकानन्द ने मानव को ईश्वर की दिव्यता प्रदान की। उन्होंने बुद्धिवादी दृष्टिकोण के आधार पर मनुष्य का दैवीकरण किया तथा देवोपम रामकृष्ण को मानव-महिमा मण्डित किया। इस प्रकार बुद्धिवाद द्वारा हमारी धार्मिक सांस्कृतिक परम्परा को अस्थिरता और अनास्था मिली। संशय और हमारी अनास्था की भावना जीवन के प्रत्येक मूल्यों के सामने उपस्थित हुई। बौद्धिक दृष्टिकोण का कठोर आघात अवतारवाद पर पड़ा।

---

१. कांग्रेस का इतिहास—पट्टाभि सीतारामैया, पृ० १३१।

ऐसा नहीं है कि बुद्धि के कारण आदर्शवाद की समाप्ति हो गयी। बुद्धिवाद आदर्शवाद का विरोधी नहीं है, बल्कि आधार रूप में उससे उद्भूत यथार्थवाद आदर्शवाद में वर्तमान रहता है। इस प्रकार तत्कालीन युग में बुद्धिवाद से स्वीकृत आदर्शवाद ग्राह्य हुआ। राष्ट्रीय जीवन के जागरण एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के इस युग में आदर्शवाद का उदय अपेक्षित भी था। अतः इस समय सांस्कृतिक धरातल पर आदर्शवाद दीखता है। अतीत के सन्देह रहित पक्ष की बड़ी भव्य और आदर्शमूलक व्यञ्जना हुई।

मानववाद का विकास

जनवाद और मानववाद की भावना भी तत्कालीन युग की सांस्कृतिक और धार्मिक स्थिति में महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त दर्शन मानववाद की पृष्ठभूमि रहा। कारण, वेदान्त दर्शन में मानव, मानव को समान या एक मूलभूत तत्त्व से ओतप्रोत देखने का दृष्टिकोण है। विवेकानन्द द्वारा भारतीय विचारधारा में मानववादी दृष्टिकोण की स्थापना हुई। मानवतावाद पश्चिमी प्रभाव से भी प्रेरित हुई।

राजनीति में समानता से जनवाद की भावना को प्रेरणा मिली। इस युग में राजनीतिक सत्ता को मध्यम वर्ग से निम्न वर्ग में पहुँचाने की भावना जगी। समान राजनीतिक अधिकारों को देने की चेतना विकसित हुई। यह सब बुद्धिवादी दृष्टिकोण के कारण हुआ।

स्वच्छन्दतावाद

तत्कालीन धार्मिक और सांस्कृतिक बोध गांधीवादी विचारधारा से भी परिचालित हुआ। सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह की उदात्त और व्यापक भावनाओं ने धर्म तथा संस्कृति को प्रभावित किया। इसी समय स्वच्छन्दतावाद आया। इससे भी बन्धन के तिरस्कार की सहज वृत्ति का विकास हुआ। स्वच्छन्दतावाद की प्रमुख प्रवृत्ति परम्परा का विरोध है। बुद्धिवाद में भी यह प्रवृत्ति है। अतः बुद्धिवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण को भी लिया जा सकता है। पर सभी विचारधाराओं के मूल में बौद्धिकता के रहते हुए भी ये पृथक् भाव धाराएँ हैं, एक नहीं। इन विभिन्न भाव धाराओं से तत्कालीन युग की धार्मिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ आन्दोलित होती रहीं।

छायावाद युग

धार्मिक-सांस्कृतिक मूल्यों की नवीन स्थितियाँ इस युग में भी उत्पन्न होती रहीं, जिनसे क्रान्ति चेतना उद्‌बुद्ध होती रही।

अन्य युगों की तरह इस युग में भी आर्य-समाज ने हिन्दू-धर्म को संगठित करने की चेष्टा की, उसे बल दिया। इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रहारों को आर्य-समाज ने झेला और हिन्दू-धर्म की रक्षा की, उसे प्रगतिशील बनाया। आलोच्य काल में साम्प्रदायिक भावना पुनः बलवती हो उठी थी।

सन् १९२१ में मोपला (मालाबार) में एकाएक मुसलमानों का विद्रोह हुआ। इस क्रम में जबरन उन्होंने ढाई हजार समीपवर्ती हिन्दुओं को इस्लाम में दीक्षित कर लिया। आर्य-समाज ने उन ढाई हजार भ्रष्ट हिन्दुओं को शुद्ध कर, फिर से हिन्दू बनाया। राजस्थान के मलकाना राजपूतों की शुद्धि भी उसने की। इससे मुसलमान क्रोधित हो उठे और राष्ट्रीय एकता को चोट पहुँची। जो हो, 'किन्तु, आर्य-समाज हिन्दुत्व की खड्गधार बाँह साबित हुआ[1]।'

नये मूल्यों का निर्माण

हिन्दू-धर्म की रूढ़ियों, कुरीतियों, जड़-परम्पराओं को मिटाने का प्रयास तो आर्य-समाज कर ही रहा था। अनेक व्यक्तियों की आस्था मूर्ति-पूजा तथा अन्य मान्यताओं से हट गयी। तर्क और बौद्धिकता की वेगवती धारा ने हिन्दू-समाज की कुरीतियों को बहा डाला। नये मूल्य बनने लगे।

महात्मा गांधी द्वारा धर्म के क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति हुई उन्होंने उपनिषद्, बौद्ध और जैन धर्म की अहिंसा को अपनाया और व्यष्टि नहीं, समष्टि के धरातल पर उसका प्रयोग किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति को एक नयी चेतना से उन्होंने सम्पन्न किया। परम्परागत आडम्बरों और कुरीतियों पर भी गांधी जी ने प्रहार किया। वे धर्म को बाह्याडम्बरों तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे, बल्कि वे सम्पूर्ण जीवन के क्रिया-कलाप में धर्म का व्यावहारिक रूप देखना चाहते थे। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में कहा, 'नैतिकता के मूल सिद्धान्त और सुनियोजित बुद्धि के जो विरुद्ध हैं, उसे नहीं मानना ही धर्म है, चाहे वह कितना भी प्राचीन क्यों न हो।' 'सांस्कृतिक नवोत्थान के साथ भारत में बुद्धिवाद की जो चेतना आयी, उसे गांधी जी ने सर्वतोभावेन ग्रहण किया[2]।' इस प्रकार तत्कालीन धार्मिक परिवेश में गांधी जी का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

हिन्दू महासभा ने, जो मुसलिम लीग की विरोधी संस्था कही जा सकती है, हिन्दू-धर्म को अपने ढंग से प्रभावित करने की कोशिश की। इसके द्वारा लीग द्वारा प्रस्तावित पाकिस्तान की माँग का जोरदार खण्डन और भारत की अखण्डता और एकता का समर्थन किया गया। उन्होंने कहा कि आर्यावर्त आर्यों के लिए है और भारत का विभाजन बर्दाश्त नहीं किया जा सकेगा। हिन्दू महासभा हिन्दू राज की स्थापना के पक्ष में थी।

मुसलमान भी हिन्दुओं की तरह अपने को अधिक संगठित करते गये। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त तुर्की में हुई वारदातों को लेकर भारत के मुसलमान सरकार के विरोधी हो गये और सन् १९२० में स्वराज्य और खिलाफत को लेकर हिन्दू-मुसलमान का संगठन हुआ और वे कन्धे से कन्धा मिलाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में अग्रसर हुए।

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारीसिंह दिनकर, पृ० ४७०।
२. संस्कृति के चार अध्याय—रामधारीसिंह दिनकर, पृ० ४७०।

लेकिन असहयोग तथा खिलाफत आन्दोलन चौरीचौरा आदि की हिंसात्मक घटनाओं के कारण वहीं रुक गया, आगे नहीं बढ़ा। इससे नौकरशाही द्वारा प्रचार किया गया कि हिन्दू मुसलमानों की भलाई के लिए कभी नहीं लड़ेंगे। मुसलमान इस बात से बहुत प्रभावित हुए, क्योंकि इस प्रचार के पश्चात् ही देश में कई साम्प्रदायिक दंगे हुए।

साम्प्रदायिक भावना

सन् १९२४ के मोपला-विद्रोह में हिन्दुओं पर जो अत्याचार हुआ, उससे सारा देश थर्रा उठा तथा हिन्दू-मुस्लिम खाई और चौड़ी हो गयी। फलतः खिलाफत और असहयोग के पक्षपातियों ने भी कांग्रेस को छोड़ दिया। सन् १९२५ में मुस्लिम लीग के अधिवेशन में खिलाफती नेता मुहम्मद अली ने कहा कि उनका गांधीजी से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है। जिन्ना आदि भी कांग्रेस से हट गये। देश में दंगों की बाढ़ आ गयी। एकता के अभाव ने देश की राष्ट्रीयता को बहुत हानि पहुँचायी। कांग्रेस के एकता बनाये रखने के प्रयत्न व्यर्थ हुए।

अंग्रेज सरकार ने राष्ट्रीय एकता को भंग करने के लिए धार्मिक विद्वेष पैदा करने की नीति अपनायी थी। इसलिए साइमन कमीशन की रिपोर्ट में पृथक् चुनाव की प्रणाली की सिफारिश की। राष्ट्रीयता के समर्थकों द्वारा एकता के लिए प्रयत्न हुआ। सन् १९२८ में लखनऊ में सर्वदल सम्मेलन हुआ जिसमें कांग्रेस के सुझाव लीग को मान्य नहीं हुए।

साम्प्रदायिक भावना सन् १९३० के आन्दोलन में बहुत कम हुई, पर सरकार उसे कम नहीं होने देना चाहती थी। उसने गोलमेज परिषद् बुलायी, जिसमें साम्प्रदायिकता के आधार पर पृथक् निर्वाचन-पद्धति पर विचार-विमर्श हुआ। इस परिषद् में राष्ट्रीय मुसलमान नहीं, बल्कि प्रतिक्रियावादी मुसलमानों को ही आहूत किया गया था। स्पष्ट है कि सरकारी नीति फूट की था। दूसरी गोलमेज परिषद् में इसकी पुनरावृत्ति हुई। बहुत कोशिशों के बावजूद, गांधीजी साम्प्रदायिक एकता स्थापित नहीं कर सके।

फिर भी सन् १९३० में सविनय अवज्ञा आन्दोलन में खिलाफत आन्दोलन की तरह ही, मुसलमानों ने पूरे उत्साह के साथ हिन्दुओं का साथ दिया। साम्प्रदायिक विरोध कम हो गया।

साम्प्रदायिक कटुता इस युग में तब बढ़ी, जब आन्दोलन समाप्त हो गये। आन्दोलनों के समय साम्प्रदायिकता नहीं भड़की। राष्ट्रीय मुसलमान भारतीय स्वतंत्रता के युद्ध में योग देते रहे। पर प्रतिक्रियावादियों की वजह से कटुता का भाव बढ़ता गया।

प्रगतिवाद युग

इस युग में धार्मिक परिस्थितियाँ लगभग पूर्ववत् ही रहीं। परिवर्तन बहुत कम हुए, लेकिन मुस्लिम लीग द्वारा पृथक् इस्लाम राज्य की माँग के कारण हिन्दू जनता में साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ने लगा। अपनी स्वार्थ नीति के कारण सरकार इसे प्रश्रय देती

रही। मुस्लिम लीग की इन कारवाइयों से हिन्दुओं में भी जातीय और साम्प्रदायिक भावना तीव्र हुई तथा दोनों जातियों का वैमनस्य बढ़ता गया।

सन् १९४६ में मुस्लिम लीग ने प्रत्यक्ष कारवाई की। फलतः देश में दंगे आरम्भ हो गये। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप पंजाब, बिहार और बंगाल में भीषण दंगे हुए। जन-धन की भीषण क्षति हुई। इससे राष्ट्रीय एकता का भी अत्यन्त ह्रास हुआ। इस प्रकार इस युग में धार्मिक आवेश का विशेषतः प्रदर्शन हुआ।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण में अवश्य कई निर्णायक परिवर्तन हुए। हमारी संस्कृति में जटिलता और विविधता इस परिवर्तन की पृष्ठभूमि थी। जटिलता के निराकरण की दिशा में दो विदेशी मनीषियों की विचारधाराओं का प्रभाव भारतीय जीवन पर विशेष पड़ा। ये थे मार्क्स और फ्रायड।

मार्क्स और फ्रायड का प्रभाव

मार्क्स ने आर्थिक आधार भूमि पर समाज की व्याख्या प्रस्तुत की। उसने सामाजिक समस्याओं की भौतिकतावादी व्याख्या करते हुए सम्पूर्ण जनता को शोषक और शोषित दो वर्गों में बाँटा। वह राजनीतिक शक्ति पर, शोषित वर्ग के संगठन द्वारा शोषकों का नाश कर, अपना अधिकार कर लेना चाहता था। समानता के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को सुख-सुविधाएँ देना उसका लक्ष्य रहा।

प्रगतिशील शक्तियाँ देश में सन् १९२७ के बाद से ही दीखने लगी थीं, पर सन् १९३७ के बाद इनकी विशेष प्रगति हुई। समानता के सिद्धान्त से लोग अभिभूत हो उठे। जनवादी मूल्यों के आधार पर सभी समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जाने लगा।

मार्क्सवाद ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानता था और रूढ़ियों तथा परम्पराओं का घोर विरोधी था। ईश्वर के बारे में उसने कहा कि वह शोषक वर्ग द्वारा निर्मित एक अस्त्र है, जो शोषितों को गुलाम बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहा है। अतः ईश्वर शोषितों के लिए नहीं। इस अनीश्वरवादी विचारधारा का जनता पर व्यापक प्रभाव पड़ा और जनवादी मूल्यों का विकास हुआ।

विचारधाराओं के परिवर्तन में तथा नयी दिशाओं की ओर प्रेरित करने में फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। काम सम्बन्धी विचारों को फ्रायड ने मनोविज्ञान के आधार पर नये रूप में विश्लेषित किया। उसके अनुसार इच्छाएँ जिनकी पूर्ति सामाजिक वर्जनाओं के कारण चेतन जीवन में नहीं होने पातीं, वे दमित होकर कुण्ठित हो जाती हैं। ये कुण्ठाएँ अधिकतर यौन सम्बन्धी हैं। अवसर पाकर ये इच्छाएँ नग्न या अर्द्ध नग्न रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। इस विचारधारा से काम सम्बन्धी पुरानी मान्यताएँ बिखरने लगीं और तत्सम्बन्धी नये मूल्य स्थापित होने लगे।

वैसे भारत जैसा परम्परावादी देश अपने प्राचीन मूल्यों को एकदम नहीं त्याग सका। धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं की प्राचीन परम्परा भी चलती रही।

भौतिकवादी दृष्टिकोण का जन्म

इन समस्त विचारधाराओं का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण भौतिकतावादी हो उठा। बौद्धिकता की प्रधानता हुई। सभी मूल्यों का परीक्षण तर्क के आधार पर होने लगा। वे मूल्य टूटने लगे, जो उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। जनवादी मान्यताएँ पनपने लगीं। इस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक जीवन का एक नया धरातल निर्मित हुआ और इस आधार पर क्रमशः नवीन क्रान्तिकारी चेतना विकसित होती गयी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। साम्प्रदायिकता तथा धार्मिक विद्वेषों का समाप्त करने की दिशा में यह एक महत्त्व-पूर्ण कदम था। धर्म-निरपेक्षता के कारण सभी धर्मावलम्बियों को सहयोग का अवसर मिला।

आर्थिक

मनुष्य की विचारधाराओं, क्रिया-कलापों पर अर्थ, वाह्य परिवेश के रूप में, सम्भवतः सबसे अधिक प्रभाव डालता है। कारण, अर्थ से ही मनुष्य की प्रायः सम्पूर्ण भौतिक क्रियाएँ परिचालित होती हैं। आर्थिक सम्पन्नता द्वारा सम्पूर्ण भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होने पर जब मनुष्य सुख से रहता है, उसमें विद्रोह की प्रवृत्ति नहीं पनपती। वस्तुतः विद्रोह या क्रान्ति के बीज अभाव और असन्तोष में उगते हैं। इस प्रकार आर्थिक स्थिति मानसिक विचारधाराओं के साथ ही क्रिया-कलापों की निर्मिति में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यहाँ तक कि गहराई से विचार करने पर यह भी देखा जा सकता है कि आर्थिक-व्यवस्था से असन्तुष्ट व्यक्ति ही समाज-व्यवस्था और फिर वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था पर ध्यान देता है। अर्थात् राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति के विचार भी आर्थिक स्थिति से प्रेरित होते हैं। इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों ने किस प्रकार क्रान्ति के लिए आधारभूमि प्रस्तुत की, इसके विश्लेषण के लिए तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों का सिंहावलोकन अनिवार्य है।

पृष्ठाधार : स्वावलम्बी गाँव

भारतवर्ष के आर्थिक जीवन के प्रधान केन्द्र गाँव रहे हैं। अंग्रेजों के आने के पहले ये ग्राम राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल के शिकार होते थे, लेकिन आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर रहा करते थे। उस समय यातायात के साधन कम थे। अतः प्रत्येक गाँव अपने-आप स्वावलम्बी रहता था। जमीन पर किसी का व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक अधिकार रहता था। कर के रूप में उत्पादित वस्तुओं में से सामूहिक रूप में राजकोष के लिए निर्धारित रकमें दी जाती थीं।

कृषि के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण उद्योग-धन्धे भी होते थे। कताई-बुनाई इनमें प्रमुख था। अन्य उद्योग-धन्धों और दस्तकारी का भी महत्त्वपूर्ण काम होता था। कृषक

परिवारों और उद्योगी परिवारों के अतिरिक्त अन्य वर्ग जैसे—ब्राह्मण, धोवी लुहार, चमार, नाई, अपंग व्यक्तियों और गाँव की रक्षा करनेवाले सैनिकों के लिए, प्रत्येक गाँव में उत्पादन शक्ति की क्षमतानुसार कुछ खेत निर्धारित कर दिये जाते थे। इनसे उपर्युक्त वर्गों का भरण-पोषण होता था। संक्षेप में, तत्कालीन समाज में कोई भूखा नहीं रहने पाता था। सब की आवश्यकताएँ समाज द्वारा पूरी हो जाती थीं।

जमींदार वर्ग

अंग्रेजी राज्य की स्थापना से पहले किसानों का सरकारी प्रतिनिधि से व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता था, बल्कि मुखिया ही माध्यम रहता था। पर गाँव के मुखिया और सरकारी प्रतिनिधि के बीच एक और व्यक्ति रहता था, जो आगे चलकर जमींदार वन गया। इस वर्ग का काम था नियमों के अनुसार हिसाव-किताव रखना। धीरे-धीरे स्वार्थ के कारण इसने किसानों से महाजनी प्रारम्भ कर दी और वदले में उनसे जमीन आदि लेने लगा। इस प्रकार किसान और सरकार के बीच एक जमींदार-वर्ग वन गया।

तत्कालीन समाज में धार्मिक कृत्यों और दान-पुण्य पर लोग वहुत खर्च करते थे। साधु, सन्त, फकीर और भिखारियों की संख्या वहुत अधिक थी। ये समाज के अनुत्पादक अंग थे। इनसे आर्थिक जीवन को क्षति पहुँचती थी।

उस समय अनेक छोटे-वड़े औद्योगिक नगर भी थे। व्यापारी, कारीगर और शिल्पी आदि प्रमुख थे। अनेक तरह की चीजों का व्यापार होता था। नगरों का आर्थिक जीवन मुख्यतया हाथ-करघों और चरखों पर आधारित था। अराजकता और राजनीतिक उथल-पुथल में अनेक औद्योगिक केन्द्रों का ह्रास होता था, पर आर्थिक संगठन और व्यवस्था में आमूल परिवर्तन नहीं होता था।

भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का दूसरा अध्याय अंग्रेजों के आगमन और विकास के साथ आरम्भ होता है। अंग्रेजों की नीति औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की नीति थी। इन्होंने एक भिन्न पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की भारत में स्थापना की, जिसका परिणाम उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में ही दीखने लगा था।

आर्थिक शोषण का आरम्भ

सन् १७५७ को प्लासी युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ। आरम्भ में कम्पनी की प्रारम्भिक नीति के फलस्वरूप वंगाल और विहार का अत्यधिक आर्थिक शोषण हुआ। व्यापारियों, कारीगरों, शिल्पियों आदि को इस आर्थिक नीति से बड़े-वड़े नुकसान सहने पड़े। इनका प्रभाव गाँवों पर भी पड़ा। भारतीय औद्योगिक जीवन के केन्द्र-विन्दु वस्त्र-निर्माताओं को वहुत यातना सहनी पड़ी।

जैसे-जैसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी स्थापित होती गयी, हिन्दी-प्रदेश की आर्थिक स्थिति का क्षय होता गया। कम्पनी को वंगाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी मिलने से

आर्थिक परिस्थिति और भी शोचनीय हो गयी। कारण, कम्पनी मालगुजारी तो लेती थी, लेकिन जनता के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं निभाती थी। साथ ही जमींदारों और रियासतों को नीलाम पर भी चढ़ा देती थी। संक्षेप में धीरे-धीरे गाँव बरबाद होने लगे। दुर्भिक्ष, बुभुक्षा फैलने लगी। रुपया इंगलैण्ड भेजा जाने लगा और राष्ट्र निर्धन होता गया। सन् १८१९ तक समस्त हिन्दी प्रदेश पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता स्थापित हो गयी थी।

कृषि व्यवस्था को क्षति

कृषि-व्यवस्था को तो क्षति पहुँची ही, कम्पनी की नीति के फलस्वरूप भारत के उद्योग-धन्धे भी बहुत क्षतिग्रस्त हुए। 'फ्री ट्रेड' नीति के अन्तर्गत भारत में तो इंगलैण्ड की वस्तुएँ बिना किसी आयात-निर्यात कर के या नाममात्र के कर से आती थीं, लेकिन भारत से जानेवाली वस्तुओं, विशेषतः कपड़ों पर भारी-भारी कर लगाकर उनके जाने में अड़चनें डाली गयीं। फलतः वहाँ का माल देश में बेहिसाब खपने लगा। इंगलैण्ड में नवीन मशीनों के आविष्कार के साथ ही भारतीय उद्योग-धन्धों का रहा-सहा अस्तित्व भी समाप्त होने लगा। भारतीय नरेशों और उच्च कुलों के पतन के कारण आश्रयदाताओं का अभाव भी उद्योग-धन्धों की अवनति का एक कारण हुआ। इस प्रकार सन् १८२३ तक उद्योग-धन्धों का पूरा ह्रास हो गया। अब भारत एक कृषि-प्रधान देश रह गया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द में नेपोलियन की शक्ति बढ़ी, जिससे इंगलैण्ड के मालों की यूरोप में बिक्री कम हो गयी। अतः अन्य ब्रिटिश व्यापारियों ने कम्पनी के एकाधिकार के विरुद्ध आवाज उठायी। फलतः सन् १८१३ में परिवर्तित चार्टर में कम्पनी का एकाधिकार छीन लिया गया। अब समस्त ब्रिटिश वणिक जाति अपने देश में तैयार चीजों को बाहर खपाने लगी। इससे भी भारतीय उद्योग-धन्धों का ह्रास हुआ। उन्होंने उन वैज्ञानिक आविष्कारों से भी भारत को अपरिचित रखा, जिसके द्वारा यूरोप प्रगति कर रहा था।

कृषि की दशा बदतर होती गयी। कर अत्यन्त अनिश्चित ढंग से लगाये जाते थे। इस कारण किसान अपने आर्थिक जीवन में निश्चिन्तता का अनुभव नहीं कर पाते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शोषण चक्र

कुछ अन्य कारणों से भी भारत की आर्थिक स्थिति में ह्रास हुआ। कम्पनी के कारण भारत का धन तेजी से इंगलैण्ड जा रहा था। कम्पनी के पदाधिकारियों के सगे-सम्बन्धियों को भारत में ऊँचे-ऊँचे पद दिये गये। 'यद्यपि सन् १८३३, १८५३ और १८५८ (विक्टोरिया) की घोषणाओं के अनुसार सैद्धान्तिक रूप में भारतवासियों का सरकारी नौकरियाँ पाने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था, किन्तु व्यावहारिक रूप में बहुत दिनों तक उन्हें उच्च सरकारी नौकरियाँ न मिल सकीं[१]।' उत्पादन

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ८६.।

शक्ति के विकास के लिए साधनों का निर्माण भी नहीं हुआ। सबसे बड़ी बात थी, भारतीय सामानों पर अधिक कर का लगना। यहाँ तक कि देश की बनी चीजें ही देश में निर्यात होती थीं, फिर भी उन पर इंगलैण्ड से आयी वस्तुओं की अपेक्षा कर अधिक लगता था। आकलैण्ड ने कोर्ट के डाइरेक्टरों की इच्छा के बावजूद इस अनीतिपूर्ण व्यवस्था को दूर किया।

प्रथम अफगान युद्ध (सन् १८३८) और उसकी असफलता से भी भारत की आर्थिक स्थिति को धक्का पहुँचा था। अनेक टकसालों के बन्द हो जाने से सोने-चाँदी का भाव गिर गया था। महाजनी का कारबार बन्द हो गया था। अंग्रेजों के अन्य उपनिवेशों में धन की पूर्ति के लिए, साम्राज्यवादी युद्धों का और भारत सरकार का इंगलैण्ड में व्यय, ऋणपत्रों पर मुनाफा आदि अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, भारतीय जनता पर बड़े-बड़े कर लगाये गये। फलतः धन विदेश जाने लगा और जनता दिन-पर दिन दरिद्र होती गयी। सन् १८३३ में कम्पनी सरकार के अधिकार छीन लिये जाने पर भी, भारतीय सरकार की आर्थिक नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। देश का साम्राज्यवादी शोषण होता रहा।

मध्यम वर्ग का प्रादुर्भाव

स्वयं भारतीयों की परम्पराओं के कारण भी आर्थिक स्थिति का कुछ ह्रास हो रहा रहा था। उत्तराधिकार के नियम ऐसे थे, जिनके कारण कृषियोग्य भूमि टुकड़ों में बँट जाती थी। नरेशों, राजाओं की विलासिता में कोई कमी नहीं थी। तत्कालीन युग में कम्पनी ने समाज के मध्यम वर्ग को भी विकास का अवसर नहीं दिया। कुछ मध्य-वर्गीय व्यक्ति कम्पनी सरकार की नौकरी अवश्य करते थे, पर सरकार भू सम्पत्ति पर निर्भर व्यक्तियों को नहीं पनपने देना चाहती थी। इस युग के अन्त में हिन्दी प्रदेश में अनेक विभिन्न सरकारी योजनाएँ कार्यान्वित होने लगीं, तब मध्यम वर्ग भी तेजी से विकसित होने लगा। इस समय तक शिक्षा का प्रचार होने लगा था, पाश्चात्य प्रभाव पड़ रहा था। इन प्रभावों के कारण मध्यम वर्ग अंग्रेजी राज्य में दिलचस्पी लेने लगा। आगे भारतेन्दु युग में समाज का नेतृत्व इसी वर्ग के हाथ में आया। यदि कम्पनी राज्य में ही मध्यम वर्ग विकसित हो जाता तो सम्भवतः उसी समय हिन्दी प्रदेश और साहित्य में पर्याप्त परिवर्तन होता। पर यह स्थिति न होने से साहित्यिक क्रान्ति नहीं हो सकी।

युग-प्रवाह

भारतेन्दु युग

अंग्रेज भारत में आये, बसे। पर भारत के आर्थिक संगठन पर पहले उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। अतः क्रान्तिकारी परिवर्तन भी नहीं हुआ। आर्थिक संगठन पूर्ववत् ही बना रहा। पर आलोच्य काल में स्टीम पावर, स्टीम इंजन और वैज्ञानिक साधनों का प्रसार तीव्र गति से बढ़ा। साथ ही फ्री ट्रेड (स्वतन्त्र व्यापार) की आर्थिक

नीति का सूत्रपात हुआ। फलस्वरूप देश के औद्योगिक संस्थानों को भारी धक्का पहुँचा। भारतीय मालों की बहुत अधिक कीमत होने से विदेशों में उनकी खपत समाप्त-प्राय हो गयी और भारत में विदेशी वस्तुओं की खपत बढ़ गयी। वैज्ञानिक साधनों के अधिक प्रचार के कारण भारतीय ग्रामोद्योग समाप्त होने लगे। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत आदि समाप्तप्राय हो गये।

यातायात के साधन बढ़ गये थे। भारत में रेलें बन गयी थीं। रेलों के बन जाने से भारत का कच्चा माल विदेशों में जाने लगा। विदेशों का तैयार माल भारत में बिकने लगा। उनकी कम कीमत और नवीनता ने भारतीय जनता को प्रभावित किया और दिन-पर-दिन उनका प्रचार अधिक होता गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि भारतीय कृषि-धन्धा भी अंग्रेजों की कूटनीति के कारण बरबाद हो रहा था। उद्योग-धन्धों के नाश होने से अधिकाधिक लोग कृषि की ओर आये। अतः कृषि-कर्मियों की संख्या बढी। खेती का साधन पुराना था। अतः खेतों की तरफ अधिक लोगों के आने से वृद्धि तो विशेष हुई नहीं, बल्कि जीवन-निर्वाह भी कठिन होने लगा। नहर सिंचाई की दर भी इतनी अधिक थी कि गरीब किसान उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। देव-कोप से सन् १८५० से सन् १९०० के बीच में २४ अकाल पड़े थे। १८ तो सन् १८७५ से १९०० के बीच ही के थे।[१] इन सब कारणों से जनता की आर्थिक स्थिति और भी दयनीय हो गयी।

साम्राज्यवादी सरकार का शोषण चक्र

साम्राज्यवादी सरकार के शासन का व्यय भी भारतीय जनता ही वहन करती थी। लन्दन स्थित इण्डिया आफिस का खर्च भी भारत को ढोना था। यह खर्च लाखों पौण्ड वार्षिक था। ब्रिटेन के अन्य राजनीतिक कार्यों, जैसे चीन में नियुक्त राजदूत, फारस में भेजे गये मिशन, अदन का शासन, अनेक ब्रिटिश कम्पनियों को दी गयी सहायता की रकमों का भुगतान भी भारतीय खजाने से ही होता था। इनकी पूर्ति के लिए करों को लगाना आवश्यक था। इन करों से भारतवासी आक्रान्त हो उठे। इनके अतिरिक्त अबीसीनिया (सन् १८६७), इराक (सन् १८७५), अफगानिस्तान (सन् १८७८), मिस्र (सन् १८८२), सूडान (सन् १८८५) और बर्मा (सन् १८८६) के युद्धों में हुए भारी खर्च को देने के लिए भारत को बाध्य किया गया। इस पूर्ति के लिए भी भारतीय जनता पर नये-नये टैक्स लगाये गये। परिणामस्वरूप भारतीय जनता चारों तरफ से पिसाने लगी। अंग्रेज भारत में व्यापारी के रूप में आये थे। उनका मुख्य उद्देश्य आर्थिक शोषण ही था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने छद्म नीति, कूटनीति, बल प्रयोग, सभी उपाय किये। कम्पनी के अधिकार प्राप्त होने पर, विक्टोरिया का शासन स्थापित होने पर, भारतीय जनता में यह आशा जगी थी कि अब भारत का शोषण पहले जैसा नहीं होगा, लेकिन अंग्रेजों की आर्थिक नीति नहीं बदली।

---

१. पृष्ठभूमि उन्नीसवीं शताब्दी—डा० रामकुमार वर्मा।

सन् १८८५ में कांग्रेस बनी, तब प्रारम्भ में उसने राजनीतिक स्वतन्त्रता से अधिक जोर आर्थिक विकास पर दिया। लेकिन १९वीं शताब्दी के अन्त तक आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। शोषण अंग्रेजों का ध्येय था, वह होता रहा। इसका उल्लेख एक अंग्रेज ने इस प्रकार किया है—हमारी पद्धति एक स्पंज के समान है। जो गंगा तट से सब अच्छी चीजों को चूस कर टेम्स तट पर ला निचोड़ती है[1]।'

द्विवेदी युग

बीसवीं सदी के आरम्भ से राजनीतिक माँगों में उग्रता आने लगी। फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में भी उग्रता आयी। राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में नव जागरण आ चुका था। इस युग में नव चेतना के प्रति उद्‌बुद्धता और बढ़ी। नव चेतना से अभिभूत भारतीय जनता ने अपनी विपन्नता देखी। उसका कारण जाना। यह कारण था अंग्रेजी राज्य द्वारा शोषण। राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित जनता ने इस शोषण के विरुद्ध आवाजें उठायीं।

शोषण के विरुद्ध आन्दोलन

१९वीं सदी में अंग्रेजों ने शोषण के लिए जिन भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट करने का प्रयास आरम्भ किया था, वह बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में चलता रहा। मैनचेस्टर की मिलें भारतीय कच्चे माल से पनपती रहीं। भारतीय कच्चे माल के अभाव में उनका फलना-फूलना असम्भव था। इधर भारतीय अपने उद्योग-धन्धों के नष्ट होने की वजह से विदेश में बनी चीजों पर निर्भर रहने लगे।

स्वदेशी आन्दोलन

पूर्ववर्ती काल में भारतेन्दु ने इसके विरोध में आवाजें उठायी थीं। इन दोनों कदमों के विरोध में उन्होंने स्वदेशी का नारा लगाया था। पर यह कार्यान्वित नहीं हो सका था। विदेशी बहिष्कार ही स्वदेशी आन्दोलन है। इस आन्दोलन से देश के उद्योग-धन्धों के विकास की सम्भावना थी। साथ ही, विदेशी माल की खरीद बन्द हो जाने से देश की सम्पत्ति देश ही में रह जाती। कांग्रेस के कार्यों में आर्थिक नीति तो थी, पर वह विशेष सक्रिय कार्य नहीं कर सकी थी। भारतीय जनता ने सन् १९०५ में, पहली बार स्वदेशी आन्दोलन के माध्यम से साम्राज्यवाद की आर्थिक नीति के विरुद्ध क्रान्ति भावना व्यक्त की। देशभर में विदेशी वस्त्रों की होली जली। स्वदेशी वस्त्रों को अपनाने की प्रतिज्ञाएँ हुई। आन्दोलन बंग-भंग के बाद बढ़ा। 'कर्जन के शासन का राजनीतिक-आर्थिक फल बहिष्कार है[2]।'

अन्य व्ययों को भी भारत वहन कर रहा था। प्रमुख थे, भारतीय शासन सूत्र संचालन का असाधारण व्यय, दिल्ली दरबार के दुर्वह व्यय का भार, प्रथम महासमर का अपार व्यय आदि। एक ओर जनता अकाल आदि से पीड़ित थी, दूसरी ओर

---

१. हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र, पृ० २४।

२. द अवेकनिंग ऑव इण्डिया—जे० आर० मैकडोनाल्ड, पृ० २०२।

उन पर लादा यह व्यय-भार। जनता की स्थिति असह्य हो उठी और उनमें आर्थिक नीति के प्रति रोष-भाव प्रबल होने लगा। बेकारी की समस्या बढ़ रही थी। ऊँची-ऊँची डिगरियों के बावजूद युवक बेकार थे। अतः उनके मन में अंग्रेजी शासन के प्रति विरोध का भाव बद्धमूल होने लगा। नवयुवक आतंकवादी कार्यों के प्रति आकृष्ट होने लगे। क्रान्ति के तत्त्व उभरने लगे और वे अंग्रेजी राज्य को नष्ट करने के लिए, सुधार की आशा का परित्याग कर, हिंसात्मक कार्योंकी ओर उन्मुख हुए।

किसानों में क्रान्ति-चेतना

किसान-वर्ग में भी क्रान्ति-चेतना सक्रिय होने लगी थी। कारण, पहले की तरह गाँव अब राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं रह गये थे। खेती पर बढ़ते हुए बोझ तथा जमींदारों के शोषण के कारण कृषकों की दशा दिनोंदिन दयनीय होती जा रही थी। शासन में उनकी आस्था नहीं रही। राजनीतिक जागृति ने उनका भी ध्यान देश की परतन्त्रता की ओर आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप उनमें भी क्रान्ति-चेतना सक्रिय हुई।

अंग्रेज निलहे साहबों की अत्याचारपूर्ण नीति ने बंगाल और बिहार के किसानों को तबाह कर डाला था। महात्मा गांधी का ध्यान उनकी दर्दनाक स्थिति की ओर गया। सन् १९१७ में इन्होंने गोरे निलहों का विरोध सत्याग्रह के अस्त्र से कर उनका उद्धार किया। उनकी प्रयोग-भूमि चम्पारन थी। सन् १९१८ में गांधीजी ने गुजरात के खेड़ा और अहमदाबाद के अकालग्रस्त कृषकों को कष्ट मुक्त करने के लिए सत्याग्रह का सहारा लेकर पूरी सफलता पायी। इससे किसानों की विचार-प्रक्रिया की नवीन दिशाएँ उन्मुक्त हुईं। उनके मन में अपनी स्थिति से उबरने की भावना जगी। यों कृषकों के विचार-जगत् में राष्ट्रीय चेतना का क्रान्तिकारी बीज पड़ा।

इस युग में शोषण का रूप और था। खेतिहर मजदूर एक ओर अन्य प्रकार से चूसे जाते थे। अंग्रेज उपनिवेशों में खेती करने के लिए भारत से प्रतिज्ञाबद्ध मजदूर ले जाये जाते थे। वहाँ इन मजदूरों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता था और भारत लौटने भी नहीं दिया जाता था। अशिक्षित, खेतिहर मजदूरों को अनेक प्रलोभन देकर प्रतिज्ञा-पत्र पर अँगूठे का निशान लगवा लेते थे। ऐसे अंग्रेजों को जनता 'गिरमिटिया साहब' कहती थी। इस अमानुषिक कार्य के विरुद्ध भी गांधीजी ने आवाज उठायी और सत्याग्रह के अस्त्र का प्रयोग किया। इसमें भी उन्हें सफलता मिली।

इस प्रकार यह युग आर्थिक परिस्थितियों की दृष्टि से शोषण और उत्पीड़न का युग अवश्य रहा, पर इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप तीव्र क्रान्ति भी व्याप्त रही। भारतीय जनता के विचारों में नये क्षितिज का उन्मेष हुआ, जागृति की नयी किरणें फूटीं।

छायावाद युग : पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म

इस युग की आर्थिक परिस्थितियों का पर्यवेक्षण पूँजीवाद के विकास और शोषण का पर्यवेक्षण है। इस काल में सामन्ती अर्थ व्यवस्था टूटने लगी और उसके स्थान पर

पूँजीवादी अर्थतन्त्र आया। उद्योग-धन्धों का विकास बहुत कम हुआ था। इंगलैण्ड में औद्योगीकरण बहुत पहले हो चुका था। भारत का कच्चा माल अन्यत्र जा रहा था। अतः प्रयत्नों के बावजूद भारत में औद्योगिक क्रान्ति की लहर फैल सकी थी, पर पूँजीवादी व्यवस्था के आगमन के साथ ही भारत की औद्योगिक उन्नति प्रारम्भ हुई। देश के औद्योगीकरण की बात माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिफार्म में भी कही गयी थी, पर वह कूटनीति ही थी। रिपोर्ट में कहा गया था :

'आर्थिक और सैनिक दोनों ही दृष्टियों से साम्राज्यवादी हितों की यही माँग है कि अब आगे से हिन्दुस्तान के प्राकृतिक साधन अच्छी तरह काम में लाये जायँ। हिन्दुस्तान का औद्योगीकरण होने पर साम्राज्य की ताकत और कितनी बढ़ जायगी, हम अभी इसका हिसाब नहीं लगा सकते।'[१]

भारत में उद्योग-धन्धों को प्रारम्भ करने का उद्देश्य युद्धजनित औद्योगिक ह्रास की क्षतिपूर्ति करना था। इसके लिए उन्होंने भारतीय पूँजी को भी आगे लाने को प्रोत्साहित किया। उनका उद्देश्य पूँजीपतियों के विकास के द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को निष्क्रिय बनाना था। भारतीय पूँजी अथवा उद्योग से उन्हें विदेशी उद्योग-धन्धों की तरह का खतरा भी नहीं था। युद्धोपरान्त भारत में अन्य देशों के सामानों का आयात बहुत बढ़ गया था। अंग्रेज यह नहीं चाहते थे कि भारत अन्य देशों का मालगादाम बन जाये। अतः अन्य विदेशी देशों के आधार पर कर की मात्रा बढ़ाई और दूसरी ओर भारतीय उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहित किया। इससे अंग्रेजोंको यह आशा भी बँधी कि पूँजीपति वर्ग उनकी ओर झुकेगा। फिर युद्ध-काल में अंग्रेजों ने भारत के औद्योगिक विकास का वादा भी किया था। अतः आलोच्य काल का पूर्वार्द्ध औद्योगिक विकास की प्रबल चेतना से भरा है।

भारतीय उद्योग अंग्रेजों की इस नीति के फलस्वरूप पनपने लगा। सन् १९१५ से सन् १९३३ के मध्य भारत के औद्योगिक उत्पादन में ५६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् १९११ में मिल मजदूर २१ लाख थे। सन् १९२१ में वह संख्या २६ लाख हो गयी। इस काल में कोयले और इस्पात के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। सन् १९१३ में भारत में व्यवहृत होने वाली वस्तुओं का तीन चतुर्थांश विदेश से आता था। सन् १९३२-३४ में यह क्रम उलट गया। अब एक चौथाई माल ही विदेश से आने लगा। लोहे का सामान जो भारत में व्यवहृत होता था, तीन चौथाई बनने लगा।

उद्योगों का विकास

इससे स्पष्ट है कि इस काल में देश के औद्योगीकरण का बहुत विकास हुआ, पर अंग्रेज भारतीय पूँजी का अधिक विकास नहीं चाहते थे। इसलिए सन् १९२४ से उन्होंने उन्हीं उद्योगों को बढ़ाने में सहायता दी, जिनमें अंग्रेजी पूँजी लगी थी। महायुद्ध के समय की नीति अब नहीं रही। अतः सरकार के विरुद्ध भारतीय पूँजीवाद आ खड़ा

---

१. माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, पृ० २६७।

हुआ और राष्ट्रीय कांग्रेस को जो भारत की औद्योगिक उन्नति की पक्षपाती थी, वह सहायता देने लगा। राष्ट्रीय क्रान्ति की दिशा में पूँजीपति वर्ग, सरकारी नीति से असन्तुष्ट होकर ही बढ़ा था।

सरकार से सन् १९२४ में लोहा उत्पादन के लिए संरक्षण की माँग की गयी। पर वह माँग अस्वीकृत हुई। साथ ही उसे दी जाने वाली सरकारी सहायता भी बन्द हो गयी। ब्रिटिश आयात के ऊपर चुंगी विशेष रूप से कम कर दी गयी। सरकार की मुद्रा विनिमय की नीति से उन्हें बहुत धक्का लगा। अब सरकारी सहायता तो बन्द थी। लेकिन विदेशी उद्योगपतियों की सहायता से भारतीय पूँजी ने प्रगति करनी आरम्भ की। रुपये की कीमत कम हो जाने से देशी उद्योग-धन्धों की स्थिति चिन्तनीय थी। स्पष्ट है कि इस नीति के कारण सन् १९२८ के बाद भारतीय पूँजी से प्रारम्भ होने वाले उद्योग-धन्धों की वृद्धि अल्प ही हो सकी।

इन्हीं दिनों रिजर्व बैंक स्थापित हुआ। इससे देश का सम्पूर्ण अर्थ-तन्त्र अंग्रेजों के हाथ में आ गया। रुपये का मूल्य कम हो गया था, भारतीय वस्तुओं की कीमत गिर गयी थी और अंग्रेजों का सूद और कर्ज बहुत ज्यादा हो गया। फलतः देश की दशा दयनीय हो उठी और उसका आर्थिक जीवन शोषण के परिणामस्वरूप जर्जर हो गया।

शिल्प-उद्योग पर प्रभाव

कल-कारखानों के खुलने के कारण, देश के प्राचीन उद्योग और भी नष्ट हो गये। शिल्प-उद्योग बरबाद हो चुका था। डी० एच० बकनन का यह कथन भारतीय औद्योगिक स्थिति के बारे में ठीक ही है:—

'थोड़े-से बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्र जरूर हैं, लेकिन दस्तकारी से जितने लोगों की रोजी चलती थी, कारखानों से उतने अधिक लोगों की रोजी नहीं चलती। देश के प्रति-वर्ष के आयात से निर्यात कम है[१]।'

फलतः देश में बेकारी बढ़ती गयी। खेती के प्राचीन ढंग पर अधिक लोगों का जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं था। अंग्रेजों का एकाधिपत्य बैंक, बीमा, जहाज, रेल, चाय, काफी, रबर, जूट आदि उद्योगों पर था। इससे वे देश का आर्थिक शोषण करते रहे। करों की संख्या बढ़ती जा रही थी। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवालों की सम्पत्ति जब्त की गयी थी। इन सब कारणों का समवेत प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ा और देश-दशा शोचनीय होती गयी।

पूँजीवाद का विरोध

इस काल में आर्थिक स्थिति का एक और नवीन मोड़ आया, पूँजीवाद का विरोध तथा मजदूर वर्ग के उन्नयन की आकांक्षा और उनका शोषण मिटा देने का अभियान। कम्युनिस्ट पार्टी इस दिशा में सबसे सक्रिय रही। इसके अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू,

---

१. हिन्दुस्तान में पूँजी कारबार की उन्नति—डा० एच० बकनन, पृ० ४५१।

आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण जैसे कांग्रेसी नेता भी इस दिशा में काम करते रहे। ये नवयुक थे और समाजवादी अर्थ व्यवस्था के पक्षधर थे।

कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् १९२८ के आस-पास मजदूर और किसानों में जागरण की चेतना भरी। उनके निर्देशन में ही किसान-मजदूर आन्दोलन प्रगति कर रहा था। गुजरात में किसानों का सरकार के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन हुआ। इससे सारे देश में जाग्रति फैली। मजदूरों की हालत अत्यधिक दयनीय थी और वे वेहद अभावग्रस्त थे। उनमें वर्ग-चेतना का विकास हुआ। उनके द्वारा विदेशी पूँजीपति ज्यादा लाभ उठाते थे, इसलिए उन्होंने शोषण का विरोध किया। मजदूरों की अशान्ति से आर्थिक व्यवस्था में नवीन चेतना उत्पन्न हुई।

इस वर्ग-चेतना के परिणामस्वरूप बंगाल के जूट मिल में हड़ताल हुई। टाटा आयरन वर्क्स तथा वम्बई की कपड़ा-मिलों में भी हड़तालें हुई। मजदूरों के आन्दोलन पर सरकार ने मार्च सन्१९२९ में कड़ा रुख अख्तियार किया और मजदूरों के कई नेता कैद कर लिये गये। इस प्रकार मजदूर वर्ग की चेतना के फलस्वरूप एक ओर अंग्रेजों की शोषण नीति का विरोध हुआ तो दूसरी ओर भारतीय पूँजीपतियों की हानि हुई। इस काल में करबन्दी आन्दोलन शुरू हुआ और नमक कानून भंग किया गया।

प्रगतिवाद युग

इस युग में देश की आर्थिक स्थिति कई-कई उतारों-चढ़ावों से आन्दोलित होती रही और दयनीय हो गयी। महायुद्ध के आर्थिक बोझ ने देशको अत्यन्त क्षति पहुँचायी।

अंग्रेजों द्वारा प्रारम्भ हुई शोषण की नीति में वृद्धि ही होती गयी। भारत से इंग-लैण्ड जाने वाला खिराज अधिकाधिक बढ़ता गया। प्रस्तुत आँकड़े के अनुसार सन् १९४५ में इंगलैण्ड प्रतिवर्ष भारत से १३५० लाख पौण्ड खिराज वसूल करता था। साथ ही बैंक पूँजी से हुए नफा द्वारा शोषण भी बढ़ रहा था।

वैसे भारत औद्योगिक विकास की दिशा में धीरे-धीरे अग्रसर था, पर वह प्रगति विशेषतः वस्त्र-उद्योग की दिशा में ही थी। औद्योगीकरण में भारी उद्योग महत्त्वपूर्ण होते हैं। जैसे, लोहा, इस्पात, मशीन आदि का उत्पादन। भारत इस दिशा में विशेष उन्नति नहीं कर सका था। साम्राज्यवादी शक्तियोंने इन उद्योग-धन्धों का विकास अवरुद्ध कर रखा था। बैंक व्यवस्था पर अंग्रेजों का नियंत्रण था और वे भारतके औद्योगिक और स्वतन्त्र आर्थिक प्रगति में सदैव बाधक बने रहे। इसी से भारतीय उद्योगों पर ब्रिटिश पूँजी का आधिपत्य भी बना रहा।

द्वितीय विश्वयुद्ध

युद्धकाल में भारत का शोषण अनेक ढंग से होता रहा। औद्योगिक विकास भी नहीं हो सका। भारत की राष्ट्रीय आय का एक तिहाई भाग रक्षा पर व्यय हुआ। युद्ध का वृहत् व्यय मुद्रा-प्रसार के द्वारा पूरा किया गया। सन् १९३९ से सन् १९४५ के बीच

भारत में ६ गुने अधिक नोट चलाये गये। इससे फौजी ठेकेदार और मिलों के स्वामी वेहद लाभान्वित हुए। बुभुक्षित जनता इस बोझ से पिस उठी। जीवन की आवश्यकताओं के अभाव में जनता की स्थिति दयनीय रही। महँगाई बढ़ती गयी। जनता अनेक कष्टों से जूझती रही।

इंगलैण्ड की स्थिति भी महायुद्ध की आर्थिक विशृंखलताओं के कारण नाजुक थी। अंग्रेजों की स्थिति राजनीति-दिशा में तो चिन्त्य थी ही, आर्थिक क्षेत्र में भी यही दशा हो गयी। ब्रिटिश पूँजीवाद बहुत कमजोर हो गया। अतः अब इस दिशा में अंग्रेजी पूँजी ने भारतीय एकाधिकारी पूँजीपतियों से समझौता प्रारम्भ किया। सन् १९४५ के बाद विशेषतः ऐसे समझौते हुए। बिड़ला, नफील्ड-टाटा-इम्पीरियल केमिकल, बिड़ला-स्टूडीबेकर, बालचन्द-क्राइसलर आदि महत्त्वपूर्ण समझौते हैं।

भारत में पूँजीवादी शक्ति और शोषण-वृत्ति का विरोध समाजवादी संस्थाओं द्वारा आलोच्यकाल के पूर्व ही शुरू हो गया था। पूँजी और श्रम का विरोध विकसित हो रहा था तथा वर्ग-चेतना प्रखर हो गयी थी। महायुद्ध की वजह से महँगी बढ़ती गयी और वर्ग-चेतना तीव्रतर हो गयी थी। इससे मजदूरों और किसानों की दशा हीनतर होती जा रही थी। पूँजीपतियों तथा व्यापारियों के शोषण ने इन्हें दहला दिया था। इसीलिए विरोध का स्वर अच्छा होने लगा।

किसानों की दशा भी शोषण के कारण दयनीय होती जा रही थी। उन्हें कुल आमदनी का एक तिहाई हिस्सा लगान के रूप में दे देना पड़ता था। उन पर ऋण-बोझ भी बढ़ता जा रहा था। कृषकों पर ४० करोड़ पौण्ड ऋण सन् १९२१ में था। वह सन् १९३७ में १३५ करोड़ पौण्ड हो गया।

महायुद्ध के समय बर्मा से चावल आना बन्द हो गया। इससे देश अकालग्रस्त हो गया। बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। प्रो० के० पी० चट्टोपाध्याय के अनुसार इस अकाल में ३५ लाख आदमी मरे। विभिन्न बीमारियों से १२ लाख मनुष्य मौत के शिकार हुए। इस प्रकार किसानों की आर्थिक स्थिति भी छिन्न-भिन्न थी। महँगाई का एक नमूना यह होगा कि सन् १९४२ में जो चावल छः रुपये मन था, सन् १९४३ में वह चालीस रुपये मन बिकने लगा। देहातों में वह सौ रुपये मन तक बिका। खेती और ग्रामोद्योग को भी इस अकाल से बहुत क्षति हुई।

इस काल में मजदूरों की संख्या में अत्यन्त वृद्धि हुई। सन् १९३८ में मजदूरों की संख्या करीब छः करोड़ थी। मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वे वर्ग-चेतना से जाग उठे थे। ट्रेड यूनियनों का कार्य भी इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण रहा। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के साथ ही ट्रेड यूनियनों में अधिक क्रियाशीलता आयी। हड़तालों की एक बड़ी लहर देश में सन् १९३७-३८ में आयी। सन् १९३७ में हड़तालों की संख्या ३७० थी।

जब सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ मजदूर वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दो-

लन में महत्वपूर्ण कदम उठाये । 'जब कि राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतागण अभी टालमटोल करने में ही लगे हुए थे, सबसे पहले मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवादी युद्ध के खिलाफ लड़ाई का बिगुल बजाया । २ अक्तूबर, सन् १९३९ को साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध में बम्बई के नब्बे हजार मजदूरों ने हड़ताल की ।'[1] इस प्रकार मजदूर वर्ग ने साम्राज्यवाद के विरोध में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को नवीन शक्ति दी ।

स्वतन्त्रता के बाद की विषमता

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर, विभाजन से, भारत में अनेक आर्थिक अव्यवस्थाएँ उत्पन्न हुईं । भारत में बनी नयी राष्ट्रीय सरकार को युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के दुष्परिणामों और मुद्रास्फीतिजन्य विषम परिस्थितियों से टकराना पड़ा । भारत में चावल, गेहूँ, कपास और पटसन जैसे कच्चे मालों की कमी हो गयी । यह विभाजन का फल था, क्योंकि इनको पैदा करनेवाले क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये । फिर स्वतन्त्र भारत में पाकिस्तान से लाखों विस्थापित आये, जिनके पुनर्वास और जीविका का विषम दायित्व भारत सरकार पर पड़ा । उत्पादन में तो कोई वृद्धि थी नहीं । अतः सभी चीजों का मूल्य बेतरह बढ़ने लगा । आयात की भी कठिनाइयाँ थीं, क्योंकि परिवहन अव्यवस्थित था और औद्योगिक उपकरण भी अनुपयुक्त थे । कांग्रेस द्वारा जनता को आर्थिक उन्नयन का आश्वासन मिला था । अतः अब जनता ने आर्थिक दशा को सुधारने की जोरदार माँग आरम्भ की । इस प्रकार अनेक कठिनाइयों का समाधान कर सरकार को आगे बढ़ना था । इन कठिनाइयों की विशालता की ओर संकेत करते हुए श्री वी० के० आर० वी० राव ने ठीक ही लिखा है—'सच तो यह है कि स्वतन्त्र भारत की नयी सरकार ने अगम-अपार आर्थिक कठिनाइयों के बीच जीवन की राह पर कदम उठाया था और जो आस्थावान थे, उनके अतिरिक्त किसी को भी यह स्पष्ट न था और न यह निश्चय था कि परिणाम क्या होगा ।'[2]

इस प्रकार देश के समक्ष कई आर्थिक समस्याएँ खड़ी थीं । खाद्य, कच्चे माल, परिवहन, औद्योगिक उद्वेग, शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्याएँ तत्काल समाधान चाहती थीं ।

स्वतन्त्रता के बाद प्रारम्भ में तीन वर्षों तक सरकार राजनीतिक समस्याओं में अधिक उलझी रही, आर्थिक समस्याओं में कम । लेकिन आर्थिक समस्याओं की पूर्ण उपेक्षा की गयी हो, ऐसी बात नहीं है । खाद्य समस्या विषम थी । इसका समाधान आवश्यक था । सन् १९४८ में खाद्यान्न पर से नियन्त्रण हटा लिया गया । शुरू में इसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई और खाद्यान्नों का दाम तीव्रतर होने लगा । विवश होकर आठ महीने बाद सरकार को पुनः उसे नियन्त्रित करना पड़ा । खाद्य सामग्री का बेहद

---

१. भारत : वर्तमान और भावी—रजनी पामदत्त, पृ० १९३ ।

२. स्वतन्त्रता के बाद भारतीय अर्थ व्यवस्था : एक विहंगावलोकन—वी. के. आर. वी. राव आजकल, फरवरी, सन् १९५६ ।

अभाव, इस तेजी का कारण था और इसके समाधान के लिए विदेशों से अनाज मँगाना आवश्यक था। साथ ही देश के उत्पादन में वृद्धि की भी आवश्यकता थी। सरकार ने दोनों दिशाओं में प्रयत्न प्रारम्भ किया।

तीसरा अध्याय •

राजनीतिक विचारधाराएं

राजनीतिक विचारधाराएँ

राष्ट्रीय चेतना

भारतेन्दु युगीन काव्य का स्वर अपने पूर्वकाल से भिन्न और नया था। देश-काल की नयी परिस्थितियों के सन्दर्भ में नयी समस्याएँ उत्पन्न हुईं और उनके समाधान भी नये रूप में प्रस्तुत हुए। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभाव से काव्य में नये विषय ग्राह्य हुए, जिनमें क्रान्ति की विचारधाराएँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं। वैसे इस युग का काव्य भी परम्परा से पूरी तरह अलग नहीं हो पाया था, लेकिन राष्ट्रीय चेतना उभरने लगी थी और फलस्वरूप क्रान्ति दीखने लगी थी। नवीन मूल्य उभरने लगे। नये युगबोध के कारण काव्य के नये विषय ग्रहण किये जाने लगे। परम्परा से पूर्णतः मुक्त न होने पर भी काव्य नयी स्थापनाएँ और सम्भावनाएँ लिये हुए था। इस युग में अदालती मामले, लकीर के फकीर, नाम या दाम के भूखे देश-भक्त, नये ढंग के गुलाम आदि विषयों पर कविताएँ लिखी जाने लगीं। नवयुग और नवजागरण की इस वेला में नयी चेतना से अनुप्राणित नये आदर्श, क्रान्तिमूलक विचारधाराएँ उत्पन्न हुईं। इस दृष्टि से काव्य के विषय में परिवर्तन और नवीनता कविता में आयी।

भारतेन्दु-युग की कविता का आन्तरिक स्वर क्रान्तिकारी है। देश की दुरवस्था का ज्ञान और उससे उत्पन्न पीड़ा इस काल की रचनाओं में है। यह अभिव्यक्ति स्वयं में अत्यन्त करुणापूर्ण है।

कम्पनी के शासन की समाप्ति और रानी के शासन के प्रारम्भ होने से देश के मध्यम वर्ग के मन में बहुत-सी शान्ति और सुखभोग की अभिलाषाएँ उत्पन्न हुईं थीं, किन्तु ऐसे काल्पनिक सुख-भोग के आकांक्षी मध्यम वर्ग को यथार्थ की कठोरता मिली और उनके सपने टूट गये। जन-जीवन में असन्तोष का उदय हुआ जो क्रान्ति का मूलाधार है। असन्तोष के उपरान्त ही परतन्त्रता और अपनी विपन्नता का जनता को अनुभव हुआ। देश की अधोगति से जनता खिन्न हो गयी। वह विकास की आकांक्षा करने लगी और इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय चेतना की क्रान्तिमूलक विचारधारा का उदय भारतीय जीवन में हुआ, जिसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति भारतेन्दु युगीन कविता में हुई है।

क्रान्ति की विचारधाराओं का उदय केवल देश की अधोगति की अनुभूति से ही नहीं हुआ, बल्कि अंग्रेजी राज्य के अत्याचार और अन्याय ने भी इसमें योगदान किया। आगे क्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अतीत गान द्वारा क्रान्ति

शायद कुछ लोग अतीत के गौरव गान को क्रान्ति की विचारधाराओं की अभिव्यक्ति के अन्तर्गत नहीं लेना चाहें, पर क्रान्ति की विचारधाराओं की सबसे सबल और प्रथम अभिव्यक्ति इसी के माध्यम से हुई है। देश अधोगति में पड़ा है। कुहासा और धुएँ से भर उठा है। विकास के सभी मार्ग अवरुद्ध हो चुके हैं। वर्तमान की यह दीन-दशा देश के प्रति चैतन्य कवियों का ध्यान गौरवपूर्ण अतीत की ओर ले जाती है। वे अतीत गान के माध्यम से वर्तमान दयनीयता को और उजागर कर देते हैं ताकि असन्तोष उत्पन्न हो, जिससे क्रान्ति-भावना उत्पन्न हो, क्योंकि असन्तोष क्रान्ति का मूलाधार है।

भारत का अतीत अत्यन्त महिमामण्डित रहा है। इस अतीत-महिमा के गान द्वारा भारतेन्दु ने राष्ट्रीय-क्रान्ति की भावना का प्रसार इन शब्दों में किया—

भारत के भुजबल जग रक्षित। भारत विद्या लहि जग सिच्छित ॥[१]

भारत का तेज, गौरव, सम्पूर्ण संसार में ख्यात था। भारत के तेज से यूरोप-अमेरिका सभी ईर्ष्या करते थे—

जिनके भय कंपित संसारा, जब जग जिनको तेज पसारा।
युरुप अमरिका इहिहि सिहाहीं, भारत भाग सरिस कोउ नाहीं।[२]

भारतवर्ष पर ही सबसे पहले ईश्वर की कृपा हुई थी। इसीलिए उसने सबके पहले इसे धन, बल दिया, सभ्य किया। रूप, रस और रंग भी भारत को ही पहले मिला। इतना ही नहीं, विद्या का फल भी पहले भारत को ही मिला—

सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।[३]

क्रान्ति की भावना उद्दीप्त हो सके, इसके लिए अपने शौर्य का भान होना आवश्यक है। भारत का अतीत शूर-वीरों के अपूर्व साहस का इतिहास है। आज भी कवि उनके स्मरण द्वारा क्रान्ति-भावना जगाना चाहता है—

धन-धन भारत के सब छत्री, जिनकी सुजस धुजा फहराय।
मारि मारि के शत्रु दिये हैं, लाखन वेर भगाय।
महानन्द की फौज सुनत ही डरे सिकन्दर राय।
राजा चन्द्रगुप्त लै आये वेटी सिल्यूकस की जाय।
मारि वलूचिन विक्रम रहे शकारी पदवी पाय।
बापा कासिम तनय मुहम्मद जीत्यौ सिन्धु दियौ उतराय।[४]

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १, पृ० ४९१।
२. वही, भाग २, पृ० ८०४।
३. वही।
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ५०३।

प्रेमघन भी अपने स्वर्णिम अतीत का स्मरण करते हुए वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रकट करते हैं—

नहिं अब भारत वह रह्यो, नहिं यामैं वह तत्त्व।
हाय विधाता ने हर्‌यो, कैसो याको सत्त्व॥
नहिं वह काशी रह गई, हती हेम मय जौन।
नहिं चौरासी कोस की, रही अयोध्या तौन॥[1]

माता शारदा की कृपा भारत के ऊपर सबसे अधिक थी। इसीलिए पृथ्वी पर भारत के तुल्य अन्य कोई देश नहीं था। इसका तेज, प्रताप, बुद्धि और गौरव सुनकर शत्रु का हृदय थर-थर काँपा करता था।

जब माँ! कृपा तुम्हारि रही भारत के ऊपर।
तब याके सम तुल्य धरनि पर रहयो न दूसर॥
याको तेज प्रताप बुद्धि गौरव जस सुनि कर।
काँपत ही नित रह्यो हियो शत्रुन को घर-घर॥[2]

इस प्रकार भारतेन्दु-युग के कवियों ने वर्तमान की अधोगति देखकर गौरवमय अतीत का स्मरण किया है, जिनके द्वारा वे जन-जीवन को राष्ट्रीय-क्रान्ति की प्रेरणा देते रहे।

वर्तमान चित्रण द्वारा क्रान्ति

इस युग में हिन्दी-कवियों ने मात्र अतीत गौरव-गान के द्वारा ही क्रान्ति चेतना नहीं जगायी, बल्कि वर्तमान चित्रण के द्वारा भी राष्ट्र-दशा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया।

वर्तमान अधोगति की भावना वेदना उत्पन्न करती है जो केवल असहायता की वेदना नहीं है, बल्कि क्षोभभरी है। हिन्दी के कवि इस माध्यम से विदेशी शासन के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करते हैं। वर्तमान की धूमिल पृष्ठभूमि पर अतीत का चमकता हुआ उज्ज्वल चित्र सहज ही प्रकट हो जाता है।

भारत कभी सर्वपूज्य रहा, किन्तु आज उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय है। महिमा-मण्डित भारत की दयनीय दशा उनको पीड़ित करती है। भारत की दुर्दशा से व्याकुल भारतेन्दु के कण्ठ से निकला था—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥[3]

भारतेन्दु से देश की दुर्दशा सही नहीं गयी। इसकी अनुभूति इतनी तीव्र थी कि उन्होंने देशवासियों को भी आमन्त्रित किया। उन्हें देश में सब जगह दुःख ही दुःख

---

१. पिता प्रलाप—प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० १५५।
२. शारदीय पूजा—बालमुकुन्द गुप्त-निबन्धावली, पृ० ५९६।
३. भारत दुर्दशा (१८८०)—भारतेन्दु नाटकावली, पृ० ५९७।

दिखायी पड़ा और उसके प्रति गहरा असन्तोष उनके मन में पैदा हुआ। इस ओर उन्होंने भारतवासियों का ध्यान भी आकृष्ट किया :—

अब जहँ देखहुँ तहँ दुख ही दुख दिखाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥[१]

प्रेमघन की वाणी कुछ और तीखी है। उन्होंने पराधीनता को सबसे बड़ा दुःख माना। इस प्रकार प्रकारान्तर से उन्होंने अंग्रेजी शासन के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया :—

जदपि जगत में बहु दुख दुसह महान।
पराधीनता के सम तदपि न आन॥[२]

पराधीनता के कठिन दुःख की अनुभूति लोकजीवन की सच्ची अनुभूति है। भारतेन्दु-युगीन जनमानस विदेशी दासता से पीडित था। उस पीड़ा की अभिव्यक्ति प्रेमघन की पंक्तियों में प्रकट हुई है। स्वराज्य की बरखा, स्वतन्त्रता की ऊष्मा मिलने पर विद्या के हल से धरती के अंकुर फूटेंगे :—

लहि सुराज बरखा सलिल सुतन्त्रता झर पाय।
जीत्यो मेघा मेदिनी विद्या हल भल भाय॥[३]

स्वतन्त्रता की इस कामना में अंग्रेजी शासन से मुक्ति की कामना है जो अकारण नहीं है। राजकोष से लोग दुःखी थे। अत्याचार को सहना कठिन था। अतः परिवर्तन, अंग्रेजी राज्य से मुक्त होकर स्वराज्य और स्वतन्त्रता पाने की आकांक्षा उदित हुई। प्रेमघन ने कहा :—

राजकोप के उपल सों सावधान अति होय।
रहियैं रंजक बीच जो सक्त नाश करि सोय॥[४]

राज कर्मचारियों के अत्याचार और मनमानी से जनता को बहुत कष्ट था। हाहाकार मचा था और प्रजा दुहाई देती थी, पर कहीं सुनवायी न थी। इस प्रकार के न्याय और दण्ड से प्रजा विलाप कर रही थी। शक्तिहीनता के कारण प्रकट रूप में विरोध सम्भव न था। इसलिए वह मन में ही सरापने लगी कि यह राज शीघ्र नष्ट हो। वर्तमान स्थिति से असन्तोष की प्रतिध्वनि का यह स्वर तीखा और क्रान्ति-मूलक है :—

राज कर्मचारी खल दुखद प्रजान,
जिन अधिकार बढ्यो अति अत्याचार।
मच्यौ चहुँ दिसि जासों हाहाकार।
प्रजा दुहाई की सुनवाई नाहिं।

---

१. वही, पृ० ५९८।
२. प्रेमघनसर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ६९।
३. प्रेमघनसर्वस्व—प्रेमघन, पृ० ३६७।
४. वही, पृ० ३६८।

चहै न्याय नहिं दण्ड रोय बिलखावहिं।
मन में सबहिं सरापहिं हाथ उठाय।
ईस वेगि अब याको राज नसाय।[१]

अत्याचार की भर्त्सना और अत्याचारी शासन के नाश की आकांक्षा निस्सन्देह अत्यन्त साहसिक है। उस समय जब कि अंग्रेजी शासन की शक्ति का लोहा बड़े-बड़े देश मानते थे और अत्याचार अपने पूरे विकास पर था, इस प्रकार के क्रान्तिमूलक विचारों की अभिव्यक्ति सरल नहीं थी। ऐसा करने पर अत्याचार और राजकोप का भय था, लेकिन जन-जीवन में व्याप्त क्रान्ति की इस तीखी विचारधारा की अभिव्यक्ति प्रेमघन ने की। ऐसा तीखा और अनुभूतिपूर्ण स्वर भारतेन्दु का नहीं है। वे अत्याचारों से त्रस्त हैं, उसके प्रति अपना आक्रोश प्रकट करते हैं, किन्तु अंग्रेजी राज्य के विरोध तथा विनाश की भावना उनके काव्य में नहीं उभर सकी। उनकी मुकरियों में अंग्रेजी शासन के प्रति व्यंग्य की तीखी चोट है। उन्होंने मतलबी अमलों पर गहरी चोट की है :—

मतलब की ही बोलै बात,
राखै सदा काम की घात।
डोले पहिने सुन्दर समला।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि अमला।[२]

पुलिस के अत्याचार से जनता त्रस्त थी। जो पुलिस के चंगुल में फँस गया वह मुक्त नहीं हो सका। वह जनता का सब कुछ लूट लेती है :—

रूप दिखावत सरवस लूटै।
फंदे में जो पड़ै न छूटै।
कपट कटारी जिय में हूलिस।
क्यों सखि सजन, नहिं सखि पूलिस।[३]

भारतेन्दु से भिन्न स्वर प्रतापनारायण मिश्र का भी है। 'राजा करै सो न्याव पासा परे सो दाव' की लोकोक्ति के आधार पर तत्कालीन राज-व्यवस्था के न्याय पक्ष पर करारा व्यंग्य करते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने अत्याचार का विरोध कर स्वतन्त्र होने की प्रेरणा दी :—

सब तजि गहो स्वतन्त्रता नहिं चुप लातैं खाव।
राजा करे सो न्याव है, पासा परे सो दाव ॥[४]

स्वतन्त्रता ग्रहण करने की प्रेरणा तत्कालीन सन्दर्भ में अत्यन्त उग्र विचारों को अभि-

१. वही, पृ० ७०।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली—भारतेन्दु, पृ० ६७६।
३. वही, पृ० ८११।
४. लोकोक्ति—प्रतापनारायण मिश्र, पृ० ३।

व्यक्त करती है। उस समय इन कवियों ने अत्यन्त साहस के साथ राष्ट्रीय चेतना के मूलभूत तत्त्व स्वतन्त्रता को ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

स्वतन्त्रता मनुष्य का मौलिक अधिकार है और तभी सुख सुलभ है। परतन्त्रता दुःखदायक होती है। परतन्त्रता और विदेशी शासन के अत्याचार से उत्पन्न दुःखों की कवियों ने अनेक बार व्यंजना की है। अत्याचार और अनीति के कारण देश में दुरवस्था व्याप्त थी। उसकी करुणापूर्ण अभिव्यक्ति भारतेन्दु की कविता में हुई है।

सन् १८९८ में बालमुकुन्द गुप्त ने 'आवहु माय' शीर्षक कविता में भारत की दुरवस्था की व्यंजना के लिए उसे मसान कहा। उस दुरवस्था में मातृवन्दना के निमित्त उत्तम पदार्थ दुर्लभ हैं :—

भारत घोर मसान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से डोलहिं कल्यानी।
हाड़ मांस नर रक्त है भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ माँ पाइये चन्दन घी मेवा।[१]

प्रतापनारायण मिश्र ने अंग्रेजों की लूट-नीति पर करारी चोट की है। देश की सारी सम्पत्ति जा रही है। देश दरिद्र हो रहा है। हम भारतवासी मात्र बातें बनाने में तेज हैं :—

सर्वसु लिये जात अँगरेज,
हम केवल ल्यक्चर को तेज।
श्रम बिनु बातें का करती हैं।
कहुँ टेंटकन गाजैं टरती हैं।

विदेशी शासन के विरोध और स्वतन्त्रता-प्राप्ति की आकांक्षा का किंचित दबा हुआ स्वर भारत की दुर्दशा से क्षोभ का परिणाम है। दुर्दशा इस सीमा तक है कि उसके निराकरण के उपाय नहीं सूझते। इसी समय भारत के अतीत का ध्यान आता है। कितना उज्ज्वल अतीत था भारत का। उसकी भुजा के बल में विश्व की रक्षा होती थी, किन्तु वही भारत निर्बल हो गया, दुःखी हो गया। वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में अतीत के उज्ज्वल पृष्ठ की स्मृति हृदय पर चोट करती है। इस चोट की अनुगूँज भारतेन्दु के शब्दों में फूटी :—

हाय वहै भारत भुव भारी, सबहीं विधि तें भई दुखारी।
रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो, सब विधि भारत दुखित बनायो।
अति निर्बली स्याम जापाना, हाय न भारत तिनहु समाना॥[२]

प्रेमघन ने देश के पतन का वर्णन हार्दिक हर्षादर्श में किया है :—

---

१. आवहु माय—बालमुकुन्द गुप्त, पृ० ३२।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८०३।

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत,
भये वीर वर सकल सुभट एकहि सन गारत॥[1]

'जातीय गीत' में भी उन्होंने देश की दुर्दशा का चित्र प्रस्तुत किया है :—

गारत भयो भले भारत यह, आरत रोय रह्यो चिल्लाय।
बल को परम पराक्रम खोयो, विद्या गरव नसाय॥[2]

इन कवियों ने भारत की दुर्दशा की ओर जन-समुदाय का ध्यान आकृष्ट किया और अपनी पतितावस्था से उन्हें अवगत कराया। पतितावस्था के कारणों पर भी उन्होंने विचार किया। उनके अनुसार भारत के पतन का एकमात्र कारण है—फूट। जहाँ फूट ही मेवा हो वहाँ स्वतन्त्रता की सम्भावना नहीं की जा सकती। इसलिए पराधीनता से मुक्त होने के लिए एकता अनिवार्य है। इस एकता की प्रेरणा इन कवियों की वाणी में स्पष्ट सुनायी पड़ती है :—

तहाँ टिकै क्यों बाहुबल, जिन घर मेवा फूट।
बल बपुरो कैसे रहे, जाय बाहु जब टूट॥
जहाँ लरैं सुत बाप संग, और भ्रात सों भ्रात।
तिनके मस्तक सों हटै, कैसे पर की लात॥
—श्रीराम स्तोत्र।

भारतेन्दु ने भी इसकी पुष्टि की—

बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहुँ न छाँड़त यदि सबै, बँधे मोह के फाँस।[3]

भारत में फूट का बीज बोया जयचन्द ने। उसने मुसलमानों को भारत पर आक्रमण के लिए आमन्त्रित किया। अपने स्वार्थ के लिए वही विदेशियों को अपने देश में ले आया। इसलिए जयचन्द के प्रति आक्रोश स्वाभाविक है—

काहे तू चौका लगाय जयचन्दवा
अपने स्वारथ भूलि लुभाय, काहे चोटि कटवा बुलाय जयचंदवा।
अपने हाथ से अपने कुलि कै काहैं तैं जड़वा कटाय जयचंदवा।
फूट के फल सब भारत बोये, बैरी के राह खुलायें जयचंदवा।[4]

प्रतापनारायण मिश्र ने भाई-भाई के वैर से पीड़ित होकर कहा :—

भाय भाय आपस में लरैं, परदेसिन के पायन परैं।
यहै द्वेष भारत ससि राहु, घर का भेदिया लंका दाहु।[5]

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५१५।
२. प्रेमघनसर्वस्व—प्रेमघन, पृ० ५४९।
३. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७३८।
४. वही, पृ० ५०२।
५. लोकोक्ति शतक—प्रतापनारायण मिश्र, पृ० २।

श्रीधर पाठक ने भी जयचन्द के प्रति अपना आक्रोश प्रकट किया, क्योंकि उसी के कारण देश में विद्रोह बढ़ा और प्रजा की बुद्धि नष्ट हुई :—

पृथ्वीराज जयचन्द जब से गये हैं
उसी काल से इनके दिन फिर गये हैं
परस्पर के विद्वेष की चहुँ ज्वाला
बनी देश में भीम रूपा कराला।
किया नष्ट उसने प्रजा भारती को
बिगाड़ा सभी की विशुद्धा मती को।[1]

राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना उद्दीप्त करने के लिए तत्कालीन कवियों ने जनता में एकता हो, इसकी कामना भी की है। उन कारणों की ओर उनकी दृष्टि गयी है, जिससे जनता में फूट है। जाति-पाँति, अनेकानेक धर्म और छुआछूत ने ही आपस में फूट डाल रखी है। इनकी निन्दा भारतेन्दु इन शब्दों में करते हैं :—

रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माँहि घुसाये।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये।
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान-पान सम्बन्ध सबनि सों बरजि छुड़ायो।[2]

पर एकता पर इतना बल देनेवाला कवि यदि कहीं-कहीं पर मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव प्रकट करता है तो आश्चर्य होता है। वह कृष्ण तक से प्रार्थना करता है कि वे कलियुग में अवतार लेकर मलेच्छाचार का नाश करें :—

जय सतजुग थापन करन, नासन म्लेच्छ अचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार।[3]

मुसलमानों के हृदय में भारतीयों के प्रति स्नेह नहीं था। वे कभी भी हिन्दुओं को अपना नहीं समझते थे। उनकी यह अभारतीयता उन्हें अखरती थी : —

जदपि जवन गन राज कियो इतहि बसि कै सह साज।
पै तिनको निज करि नहिं जान्यौ हिन्दु समाज।[4]

यही कारण था कि जब सन् १८८२ में अंग्रेजों ने मिस्र पर विजय प्राप्त की तब उन्होंने इसे भारतीयों की विजय मानी और 'आर्य मोंछ के बार' को ऊँचा होते देखा :—

फरकि उठी सब की भुजा, खरकि उठी तरवार।
क्यों आपुहि ऊँचे भये आर्य मोंछ के बार।[5]

---

१. मनोविनोद—श्रीधर पाठक, पृ० १७७।

२. भारत दुर्दशा—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ६०४।

३. वही।

४. वही, पृ० ७२३।

५. वही, पृ० ८००।

डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने मुसलमानों के प्रति इस रुख को देखकर कहा है कि 'हिन्दू पुनरुत्थान काल का प्रथम चरण ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से कुछ मुस्लिम विरोधी रुख लिये हुए था।' इसीलिए हिन्दुओं का एक विशेष दृष्टिकोण था— 'अंग्रेजों से राजनीतिक सम्बन्ध रखते हुए मुसलिम विरोधी और उस समय जब कि अंग्रेज भी मुसलमानों से नाराज थे।'

उन्होंने आगे कहा, 'उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु अथवा अन्य किसी कवि ने मुसलमानों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह राजनीतिक अस्त-व्यस्तता और तज्जनित देश की पीड़ित अवस्था और धार्मिक अत्याचार की दृष्टि से कहा है।'[1]

सचमुच मुसलमानों के प्रति ऐसी भावना की अभिव्यक्ति का कारण था भारत की दयनीय दशा की ओर ध्यान जाना और तब मुसलमानों के अत्याचार की ओर ध्यान चला जाना, क्योंकि ये ही भारत की वर्तमान दुर्दशा के जड़ में थे। पर उनकी यह भावना मुस्लिम-विरोधी प्रचार की नहीं थी। उनका यह क्रान्ति-गान मात्र मुस्लिम अत्याचारों के विरुद्ध था।

राष्ट्रीय-क्रान्ति का उन्मेष हिन्दू-मुस्लिम द्वेष से सम्भव नहीं था, बल्कि इससे फूट पड़ जाती और भारतेन्दु राष्ट्रीय क्रान्ति की भावना से भरे हुए थे। उस युग के अन्य कवियों में भी यही भावना थी। इसीलिए उन्होंने साम्प्रदायिकता को नहीं उभारा, बल्कि एकता का आह्वान किया। उन्होंने अनेकता की बुराइयों का उल्लेख किया, साथ ही हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भी आवाजें उठायीं। 'प्रेमघन' ने राष्ट्रीयता के लिए जैन, पारसी, ईसाई सबके एक सूत्र में बँधने की कामना की :—

हिन्दू मुसलिम जैन पारसी ईसाई सब जात।
सुखी होंय हिय भरे प्रेमघन सकल भारती प्रात।

स्वतन्त्रता के लिए सब तज कर भी क्रान्ति की आवश्यकता है, चुपचाप बैठ कर लात खाने की नहीं—इसे लोकोक्ति शतक में प्रतापनारायण मिश्र ने कहा :—

सब तजि गहो स्वतन्त्रता, नहिं चुप लातैं खाव।
राजा करै सो न्याव है, पासा परै सो दाव॥[2]

आर्यों के परतन्त्र होने का कारण बताते हुए ये कहते हैं :—

भायक तनक परस्पर नहिं जहँ
सरल सनेह न हरि चरनन महँ।
जगत दास कस होहिं न आरज,
निबर की जुइया सबके सरहज।[3]

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० २८९।
२. लोकोक्ति शतक—प्रतापनारायण मिश्र, पृ० ३।
३. वहीं, पृ० २-३।

अर्थात् परस्पर प्रीति का अभाव, भाई-चारे का अभाव, ही परतन्त्रता का कारण है।

राष्ट्रीय क्रान्ति सफल हो सके, इसके लिए सब में एकता आवश्यक है। मैत्री-भाव से ही देश की दशा सुधर सकती है। एकता सबसे बड़ा बल है :—

प्रीति परस्पर राखहु मीत।
जइहैं सब दुख सहजहिं बीत।
नहिं एकता सरिस बल कोय।
एक एक मिलि ग्यारह होय।[1]

स्पष्ट है कि तत्कालीन कवियों में मुस्लिम विरोधी भावना नहीं थी। अपनी दीनता के वर्णन-प्रकरण में प्रकारान्तर से भले ही उसका प्रकाशन हुआ हो। धर्म के आधार पर मुसलमानों का विरोध वे नहीं करते। देश-उत्थान उनका सर्वोपरि लक्ष्य था, वह उपर्युक्त वर्णित एकता की बातों से स्पष्ट है। वे राष्ट्रीय क्रान्ति के उन्मेष के लिए तत्पर थे। पर उनकी क्रान्ति का रूप उग्र नहीं था, बल्कि वे दीनावस्था का वर्णन कर वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करने में सचेष्ट थे। इसके लिए उन्होंने जन-समूह को एकता का सन्देश दिया था। इसीलिए भारतेन्दु युग के कवियों ने आर्थिक दुर्दशा की चर्चा अधिक की, इसलिए कि देश की दीन-दशा मिटे।

अंग्रेजों की फूट डालने की नीति के कारण ही भारतेन्दु-युग में कहीं-कहीं पर धार्मिक विद्वेष की झलक मिलती है—हिन्दू-मुस्लिम वैर नहीं है। दोनों अंग्रेजों द्वारा शोषित थे, पीड़ित थे। दोनों ने एक होकर सन् १८५७ के गदर में अंग्रेजों के समक्ष अपना बल प्रदर्शित किया था। इसीलिए अंग्रेज दोनों में फूट डालने की कोशिश करते रहते, ताकि वे बलवान् न हो सकें। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। भारतेन्दु-युगीन कवियों को ज्ञात हो गया था कि राष्ट्रीय क्रान्ति तभी सफल हो सकेगी, जब दोनों जातियाँ एक होकर विदेशियों के मुकाबिले में खड़ी होंगी।

एकता की पुकार के अतिरिक्त, अपनी करुण दशा का वर्णन कर, ईश्वर से प्रार्थना करके भी, तत्कालीन कवियों ने राष्ट्रीय क्रान्ति की भावना को उद्‌बुद्ध करने का प्रयत्न किया है। भारत डूब रहा है इसलिए भारतेन्दु प्रभु से जागने की प्रार्थना करते हैं :—

डूबत भारत नाथ वेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो॥
महा मूढ़ता वायु बढ़ावत तेहि अनुरागो।
कृपा-दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो॥
अपुनो अपनायो जानि कै करहु कृपा गिरिवर-धरन।
जागो बलि वेगहि नाथ अब देहु दीन हिंदुन सरन॥१७॥[2]

---

१. वही।
२. प्रबोधिनी, भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग।

श्री राधाकृष्ण दास भी देश-प्रेम से भर कर ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि आर्त भारतवासियों पर दया करें :—

'हम आरत भारतवासिन पै अब दीन दयाल दया करिये।'[१]

भारत दुर्दशा के मंगलाचरण में भारत के उद्धार के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हुए भारतेन्दु उनसे अवतार धारण करने को कहते हैं :—

जय सतजुग थापन करन, नासन म्लेच्छ अचार।
कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार।[२]

करुण-दशा और ईश्वर प्रार्थना के इन चित्रणों द्वारा वैचारिक क्रान्ति उग्र करने के साथ ही तत्कालीन कवियों ने कहीं-कहीं उग्र क्रान्ति का सन्देश भी दिया है :—

जागो जागो रे भाई......
अबहुँ चेति पकरि राखो किन जो कुछ बची बढ़ाई।

होली गाते हुए भी भारतेन्दु कमर बाँध कर शस्त्र धारण करते हुए आगे पाँव बढ़ाने का सन्देश देते हैं :—

उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरो री।
विजय-निसान बजाइ बावरे आगेइ पाँव धरो री ॥[३]

भारत-पुत्रों को जगाने के लिए वे राम, युधिष्ठिर और विक्रम की याद भी दिलाते हैं :—

उठौ उठौ भैया क्यौं हारौ अपुन रूप सुमिरो री।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करोरी।
दीनता दूर धरोरी।[४]

वे लोगों के कायरता की भर्त्सना करते हुए भी जागरण की प्रेरणा देते हैं। कायर पुत्र उत्पन्न करनेवाले माता-पिता को भी धिक्कार है और वह घड़ी भी धिक्कारपूर्ण है, जब ऐसे कायर पैदा हुए :—

धिक धिक मात पिता जिन तुम सों कायर पुत्र जन्यो री।
धिक वह घरी जनम भयो यह कलंक प्रगटो री।
जनमतहि क्यों न मरो री।[५]

प्रतापनारायण मिश्र ने भी 'सब तजि गहो स्वतन्त्रता नहिं चुप लातैं खाव' के द्वारा मूलतः अंग्रेजों के अत्याचार को ही दर्शाया है। प्रयास और कार्यों से दयनीय दशा को छुटकारा मिल सकता है। राष्ट्रोत्थान हो सके, राष्ट्र गुलामी से छुटकारा पा सके, इसके लिए क्रान्ति आवश्यक है—यह विभिन्न प्रकार से तत्कालीन कवियों

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पहला खण्ड, सं० श्यामसुन्दर दास।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ४९०।
१-२ तथा ३—वही, पृ० ४०६ दूसरा भाग, दूसरा संस्करण।

ने प्रकट किया। उन्होंने कर्म के सन्देश द्वारा स्वाधीनता की ओर अग्रसर होने का आह्वान किया, जिसके परिणामस्वरूप सारे देश में जागरण की दुंदुभी बजी।

जन्मभूमि के प्रति मातृत्व की भावना प्रदर्शित करना, अपनी समस्याओं को अंग्रेजों के समक्ष रखना, तत्कालीन दयनीय दशा का करुण चित्रण करना—ये सब वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करने के साधन रहे हैं। इन सारी भावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा तत्कालीन कवियों ने राष्ट्रीय क्रान्ति को उद्बुद्ध किया, उसे व्यापक और विस्तृत बनाया।

द्विवेदी युग

भारतेन्दु-युग की अपेक्षा द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय क्रान्ति का स्वर और तीव्र हो उठा। विभिन्न प्रकार से राष्ट्र के प्रति क्रान्तिकारी विचार प्रदर्शित हुए। हिन्दी काव्य भी इन विभिन्नताओं से स्पन्दित होता रहा और विभिन्न रूपों में दिशाओं में क्रान्ति-भावनाएँ प्रस्फुटित होती रहीं।

अतीत गान द्वारा क्रान्ति

राष्ट्रीय चेतना की भावना इस काल में अति तीव्र हुई, अतः क्रान्ति की भावनाएँ भी भारतेन्दु-युग की अपेक्षा इस युग में अधिक प्रखर हुईं। क्रान्ति की वैचारिक चेतना को उद्दीप्त करने के लिए कवियों ने जन-मानस को भारत के गौरवमय अतीत का स्मरण कराया। भारत का अतीत गरिमामय रहा है। पर वर्तमान स्थिति दयनीय है। वर्तमान की इसी दयनीय दशा की तुलना में द्विवेदी युगीन कवियों ने अपने उज्ज्वल अतीत की गरिमा का वर्णन किया।

अतीत गौरव गान की सर्वोत्कृष्ट तथा प्रसिद्ध रचना 'भारत भारती है। इसके माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त ने भारत के अतीत गौरव का दर्शन कराया और हिन्दुओं को उत्थान के लिए क्रान्तिकारी प्रेरणा दी। इनका उद्देश्य हिन्दुओं में सुप्त राष्ट्रीय भावना और गौरव भावना को जगाना था। इसलिए उन्होंने लेखनी को सम्बोधित करते हुए कहा है :—

> स्वच्छन्दता से कर तुझे करने पड़ें प्रस्ताव जो,
> जग जायँ तेरी नोंक से सोये हुए हों भाव जो।[१]

वे हिन्दुओं को केवल अतीत दर्शन ही नहीं, वर्तमान दशा का बोध और भविष्य की सम्भावनाएँ भी बताना चाहते थे। अतः उन्होंने सब समस्याओं पर विचार करके पुस्तक का तीन खण्डों में विभाजित किया है—अतीत खण्ड, वर्तमान खण्ड और भविष्य खण्ड। अतीत खण्ड भारत के परमोज्वल अतीत का गौरवमय गुणगान है। आज का वृद्ध भारत कभी संसार में अग्रणी था :—

> हाँ, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
> ऐसा पुरातन देश कोई विश्व में क्या और है?

---

१. भारत भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १।

भगवान् की भवभूतियों का यह प्रथम भाण्डार है,
विधि ने किया नर सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।[1]

भारतवर्ष की श्रेष्ठता का अनेक प्रकार से गौरवमय आख्यान कवि ने किया है :—

भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ।
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है?
उसका कि जो ऋषि भूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है।[2]

इस तरह 'भारत भारती' के द्वारा भारत की प्राचीन सुषमा और गौरव की याद दिला कर कवि ने वर्तमान के प्रति असन्तोष पैदा करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। असन्तोष की चिनगारियाँ ही क्रान्ति के सुलगने में सहायक होती रही हैं।

गुप्तजी के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी भारत-भारती का गुणगान करते हुए प्राचीन वैभव की याद दिलायी। गोकुलचन्द शर्मा ने जनता को 'आर्य सन्तान' कहते हुए आगे बढ़ने को ललकारा :—

उठो आर्य सन्तान आगे बढ़ो, पड़े कूप में क्यों न ऊँचे चढ़ो।
विलोको अवस्था हुई क्या यहाँ? चला स्रोत देखो तुम्हारा कहाँ।[3]

इसी प्रकार रामनरेश त्रिपाठी, रामचरित उपाध्याय, सियारामशरण गुप्त, त्रिशूल आदि कवियों ने भी भारत की प्राचीत गरिमा का गान किया और राष्ट्रीय चेतना जगायी।

मातृभूमि के दैवीकरण द्वारा क्रान्ति

जन-मानस में क्रान्ति की भावना का प्रस्फुटन हो, इसके लिए कवियों ने राष्ट्रीय भावना को उद्बुद्ध करने के लिए मातृभूमि का दैवीकरण किया है। राष्ट्र के प्रति प्रेम हो और उसका उदात्तीकरण हो, इसके लिए उसमें श्रद्धाभाव का समावेश भी आवश्यक है। माता के प्रति मनुष्य की असीम श्रद्धा होती है। इसीलिए मातृभूमि को माता मानकर पूजा जाता रहा है और अब इसी मातृभावना में उदात्तीकरण के फलस्वरूप दैवीकरण हुआ।

यों तो दैवीकरण की परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग में श्रीधर पाठक की 'भारत वन्दना' शीर्षक कविता से ही हो गया था। पर वह भावना पुष्ट नहीं हो पायी थी। द्विवेदी-युग में उसे पुष्टि तब मिली, जब क्रान्तिकारियों के कारण मातृभूमि को दुर्गा, काली आदि आराध्य देवियों की गरिमा मिली। कहीं कहीं पर लक्ष्मी आदि भी कहा गया है।

माता सम्प्रदाय के क्रान्तिकारी विशेष रूप से मातृभूमि को शक्ति का प्रतीक मानने लगे। बंगला उपन्यासों में, विशेषतः बंकिमचन्द्र के उपन्यासों में यह भाव

---

१. वही, पृ० ४।
२. वही, पृ० ४।
३. पद्य प्रदीप—गोकुलचन्द्र शर्मा, पृ० १८, प्रथमावृत्ति।

उभरा है। हिन्दी-काव्य में मातृभूमि को शक्ति के अवतार रूप में तो उतना नहीं, पर श्रद्धेय, पूज्या और आराध्या के रूप में अधिक पूजा गया। बंकिम बाबू ने 'आनन्द मठ' में 'वन्देमातरम्' नामक जो गीत लिखा था, वह राष्ट्रीय गीत बना और उसके आधार पर हिन्दी में मातृ-वन्दना के अनेक गीत लिखे गये।

भारत-भूमि के दैवीकरण के माध्यम से क्रान्ति-भावना जाग्रत करनेवालों में मुख्यतः मैथिलीशरण गुप्त, महावीरप्रसाद द्विवेदी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, गिरधर शर्मा, गोपालशरण सिंह, रूपनारायण पाण्डेय आदि हैं। वर्तमान राष्ट्रीय शोषण के प्रति क्रान्तिकारी भावना उत्पन्न हो, इसके लिए राष्ट्र-प्रेम आवश्यक है और राष्ट्र-प्रेम उद्दीप्त हो सके, इसके लिए राष्ट्र के सुरम्य रूप-चित्रण की भी आवश्यकता है। श्री गिरिधर शर्मा ने 'भारत माता' शीर्षक में 'भारत भू' का एक ऐसा ही सुरम्य चित्र उपस्थित किया है :–

'सुजल सुफल है मही यहाँ की
सस्य श्यामल मही यहाँ की
मलयज शीतल मही यहाँ की
विबुध मनोहर मही यहाँ की –सरस्वती, सन् १९०५।

श्रीधर पाठक ने देश को 'जगत्-मुकुट' बताया है :—

जय जय प्यारा भारत-देश
जय जय प्यारा जग से न्यारा
शोभित सारा देश हमारा
जगत्-मुकुट जगदीश दुलारा
जय सौभाग्य सुदेश
जय जय प्यारा भारत देश।[1]

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'वन्देमातरम्' के आधार पर हिन्दी में 'वन्देमातरम्' गाया। मैथिलीशरण गुप्त ने भारत माता के और भी उदात्त रूप की कल्पना की है :—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है,
बन्दी विविध विहंग, शेषफन सिंहासन है।

माधव शुक्ल ने भी देश के दैवी रूप का विविध वर्णन किया है। 'देश वन्दना' शीर्षक कविता में उन्होंने एक सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रत्येग अंग की वन्दना की है :—

जयति जयति हिन्द देश, जय स्वराज्य जय स्वदेश।
जयति महाराष्ट्र बंग, सिंध राजस्थान संग।
भद्र पंचनद सुशान्त, पुण्य भूमि युक्त प्रांत।
जयति जयति हिन्द देश।[2]

---

१. भारत गीत—श्रीधर पाठक, पृ० १९।
२. जागृत भारत—माधव शुक्ल, पृ० २, सन् १९२२।

भूमि के गुणगान के साथ इन कवियों ने भारत-भू की समन्वित जनशक्ति को भी उद्‌बुद्ध किया है :—

जन तीस करोड़ यहाँ गिन के,
कर साठ करोड़ हुए जिनके।
जग में यह कार्य मिला किसको,
यह देश न साध सके जिसको।[१]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि भारत की जन-चेतना का गौरव गान करते हुए उनकी सहज शक्ति को उद्वेलित करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार तत्कालीन कवि जन-भावना से संयुक्त मातृभूमि के रूप की प्रवल महिमा का गुणगान प्रस्तुत करते हैं और एकता का आह्वान करते हुए राष्ट्रीय-क्रान्ति को प्रोत्साहन देते हैं।

राष्ट्र की भूमि और जन के गुणगान के साथ ही कवियों ने उसके दैवी रूप का वर्णन किया है और उस देवी के चरणों में अपना सर्वस्व न्योछावर करने की कामना की है। भारत धर्मप्राण देश रहा है। इसलिए देश-भक्ति की उमड़ती श्रद्धा को प्रकट करने का एक सशक्त माध्यम था—देवी रूप का वर्णन। रामनरेश त्रिपाठी ने मातृ-भूमि के दुर्गा रूप का वर्णन किया है :—

अभय दुर्जया शक्ति-धारिणि,
निमिष में अरि उर विदारिणि,
खड्‌ग हस्ता तेज रूपिणि,
देवि दुर्जन दलनि।

जन्मभूमि को लक्ष्मी रूप में चित्रित करते हुए श्री सियारामशरण गुप्त ने उसके दैन्य दुःख निवारिणी रूप का वर्णन किया है :—

जय अनिल कम्पित मनोरम श्याम अञ्चल धारिणी
व्योमचुम्बी भाल हिमगिरि है तुषार किरीट है
जय जयति लक्ष्मी स्वरूपा दैन्य-दुःख निवारिणी।

द्विवेदी-युग के अन्य कवियों ने भी, जैसे माताप्रसाद गुप्त ने 'जन्मभूमि', मन्नन द्विवेदी ने 'मातृभूमि', रामनरेश त्रिपाठी ने 'जन्मभूमि', लोचनप्रसाद पाण्डेय ने 'हमारा देश', गोपालशरण सिंह ने 'मातृभूमि', शिवनारायण द्विवेदी ने 'मातृगान', सियाराम-शरण गुप्त ने 'जननी' शीर्षक कविताओं के माध्यम से जन्मभूमि का गौरव गान किया। इनके आह्वान के परिणामस्वरूप हिन्दी-भाषी जन-जीवन में क्रान्ति भावना का व्यापक प्रचार हुआ।

वर्तमान चित्रण द्वारा क्रान्ति

वर्तमान की करुण दशा ही अतीत का स्मरण दिलाने में सहायक होती है और अतीत का गौरव ही वर्तमान दुर्दशा से टकराकर क्षोभ एवं आक्रोश जगाता है। अतीत

---

१. स्वर्ग सहोदर—मैथिलीशरण गुप्त, सरस्वती, अगस्त, सन् १९०८, पृ० ३६२।

में उनकी प्रतिक्रिया के अध्ययन से भी यह स्पष्ट होगा कि किस प्रकार क्रान्तिकारी भावनाएँ प्रकट हो रही थीं।

देश जब जागता है, तब शासन की क्रूरताओं का विरोध होता है। शोषित जब राष्ट्र-विरोधी क्रियाओं का विरोध करते हैं और अपने बल, शौर्य द्वारा परतन्त्रता को दूर हटा देना चाहते हैं तो उनमें क्रान्ति की ज्वाला सुलगने लगती है।

भारतेन्दु-युग में राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना की जो चिनगारी जली थी, वह अब ज्वाला बनकर भड़कने लगी। द्विवेदी-युग में स्वतन्त्रता के लिए समवेत कण्ठ से हुँकार निकलने लगी। विद्रोह एवं विध्वंस की वाणी स्पष्ट उभरने लगी। स्वतन्त्रता के लिए बलिदान तक होने की आकांक्षा जग उठी।

द्विवेदी-युग में वंग-भंग प्रथम व्यापक राजनीतिक घटना थी, जिससे सारा देश क्षुब्ध हुआ, आन्दोलित हुआ। हिन्दी काव्य में भी यह भावना यत्र-तत्र प्रकट हुई है। वंग-भंग जैसे साम्प्रदायिक आन्दोलन से प्रेरित होकर मुसलमानों ने भी मुस्लिम लीग की स्थापना की। राष्ट्रीयता की भावना से भरे कवियों ने देखा कि हिन्दू-मुस्लिम फूट से देश कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता की तीव्र आवश्यकता को अनुभव किया। इसलिए काव्य में भी प्रान्तीयता के मूलोच्छेद की आवाज उठी। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने लिखा :—

मुसलमान हिन्दुओ ! वही है कौमी दुश्मन,
जुदा-जुदा जो करे फाड़कर चोली दामन।

इसी प्रकार श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, गिरिधर शर्मा, माधव शुक्ल आदि कवियों ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए चेतना फैलायी और इसके माध्यम से राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना को बल प्रदान किया।

लोकमान्य तिलक उस समय देश के अग्रणी नेताओं में थे। सन् १९१४ में ये ब्रह्मा जेल से छूट कर आये और 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' की घोषणा के द्वारा देश में नूतन क्रान्ति-भावना को स्थापित किया। इस नवीन क्रान्ति-भावना को हिन्दी-कवियों ने भी स्वर प्रदान किया।

'भारत सन्तान' शीर्षक कविता में कवि त्रिशूल अपने जन्मसिद्ध अधिकार की दृढ़ता से माँग करते हैं और स्पष्ट करते हैं कि यदि कोई हमारा जन्मसिद्ध अधिकार छीनेगा तो कब तक मन मार कर बैठा जा सकता है :—

हमारे जन्मसिद्ध अधिकार। अगर छीनेगा कोई यार।
रहेंगे कब तक मन को मार। सहेंगे कब तक अत्याचार।
कभी तो आवेगा यह ध्यान। सकल मनुजों के स्वत्व समान।[१]

इस प्रकार भारतीय जनता तिलक द्वारा उत्प्रेरित होकर निर्भीक रूप से स्वतन्त्रता की

१. त्रिशूल तरंग—त्रिशूल, पृ० २०, तृतीय संस्करण, दिसम्बर, सन् १९२१—प्रताप पुस्तकमाला कार्यालय, कानपुर।

माँग करने लगी। उसमें अभिमान जाग्रत हुआ। वह अपने अधिकारों के लिए तत्पर हो उठी।

प्रथम विश्वयुद्ध का आरम्भ इन्हीं दिनों हुआ। अन्य देशों के स्वातन्त्र्य की माँग का प्रेरणादायक प्रभाव भारत पर भी पड़ा। इस समय देश में आतंकवादी कार्य भी जोरों पर थे। हलचल और उथल-पुथल से भारतीय जनता आक्रान्त थी और भारतीय जन-जीवन में क्रान्ति तथा युद्ध-भावना जोरों से स्थान ले रही थी।

इसी भावना से प्रेरित होकर गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' कर्म की तलवार उठा कर और उस पर ज्ञान की शान चढ़ा कर स्वाभिमान के साथ युद्ध में कूद पड़े :—

लेकर कर्म-कृपाण, ज्ञान की शान चढ़ाओ।
बल-विद्या-विज्ञान झिलम उर पर झलकाओ।
स्वाभिमान के साथ समर में सम्मुख आओ।
चलो बला की चाल कला कौशल दिखलाओ।

श्री हरिराम पुजारी ने 'वन्दे मातरम्' में बलि होकर भी 'वन्दे मातरम्' की हुँकार की इच्छा की है :—

टाँग दो सूली पै मुझको खाल मेरी खींच लो।
दम निकलते तक सुनो हुँकार वन्देमातरम्॥
देश से हमको निकालो भेज दो यमलोक को।
जीत लें संसार को गुंजार वन्देमातरम्॥[१]

होमरुल स्वराज्य आन्दोलन का एक अन्य जबरदस्त कदम था। सन् १९१६ में श्रीमती एनी बिसेण्ट ने इसका नेतृत्व किया। इससे भी सारा देश आन्दोलित हो उठा और स्वराज्य की भावना और बलवती हो गयी। 'लेंगे होमरूल अपना' शीर्षक गजल में श्री माधव शुक्ल ने सर्वस्व न्योछावर करके भी होमरुल लेने की आकांक्षा व्यक्त की है :—

खुशी से छीन लो घर बार जीवन प्रान धन मेरा।
ये आँखें फोड़ कर सारा जला दो तन वतन मेरा॥

× × ×

न छोड़ेंगे न छोड़ेंगे कभी यह टेक हम अपना।
निकलती साँस तक बोलेंगे लेंगे होमरुल अपना॥[२]

स्वराज्य की यह आकांक्षा होमरुल से भी अधिक बलवती होकर कोटि-कोटि कण्ठों से फूट पड़ी थी। हरिराम पुजारी ने 'असहयोगी की प्रतिज्ञा' में उद्घोषणा की कि वे नौकरशाही के घमण्ड को चकनाचूर करके अपने 'जन्मसिद्ध अधिकार' को लेंगे :—

---

१. स्वतन्त्रता की झनकार—प्रथम भाग—हरिराम पुजारी, सन् १९२२, द्वितीय संस्करण पृ० १२
२. जागृत भारत—माधव शुक्ल, प्रथम संस्करण, सन् १९२२, पृ० ३५।

नौकरशाही के घमण्ड को जब कर देंगे चकनाचूर।
'जन्मसिद्ध अधिकार' प्राप्त कर हम होंगे सुख से भरपूर॥
जन्मभूमि जननी के दुस्सह दुःखों को कर देंगे दूर।
जन्म सफल तब ही समझेंगे असहयोगी सेना के शूर॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति का अभय स्वर गूँज उठा है।

तिलक की मृत्यु का भी देश पर व्यापक असर हुआ। उनके निधन को राष्ट्रीय-क्षति और शासकों का अत्याचार समझा गया। माधव शुक्ल ने इस अत्याचार की प्रतिक्रिया स्वरूप कहा :—

सारी दुनिया काँप उठेगी दोषी दिल हिल जायेगा।
आज भारती हुँकारों से लन्दन भी थहरायेगा।
आज पर्व दिन है स्वराज्य का गांधी युग का मेला है।
उठो भारती जल्द नहा लो स्वतन्त्रता की बेला है।[2]

शासकों का दमन प्रारम्भ हो चुका था। पर राष्ट्र-भक्त भी बलिदान के माध्यम से क्रान्ति के लिए कटिबद्ध थे। 'उग्र' ने 'दमन नीति का स्वागत' किया—डर कर दबे नहीं :—

दमन नीति के भूत भयंकर।
तू हमको होवेगा-शंकर॥
प्रकटित होगा तुझ से ही सत–
स्वागत ! स्वागत !!

× × ×

कारागार स्वर्ग-सम जाना,
अत्याचार सहेंगे,—ठाना॥
इससे दूनी होगी ताकत।
स्वागत ! स्वागत !![3]

कविगण स्वयं तो जागे ही, अपनी ओजस्वी वाणी द्वारा जनता-जनार्दन का आह्वान भी किया। माधव शुक्ल ने 'आह्वान' करते हुए कहा :—

चाहती है माता बलिदान-जवानों, उठो हिन्द सन्तान॥
हँसते हुए फूल से आकर शीश झुका दो माँ के पथ पर,
कटता हो कट जाने दो सर तनिक न होना म्लान॥
जवानों, उठो हिन्द सन्तान।[4]

---

१. स्वतन्त्रता की झनकार—हरिराम पुजारी, द्वितीय संस्करण, सन् १९२२, प्रथम भाग, पृ० १२।
२. जागृत भारत—माधव शुक्ल, पृ० २५, सन् १९२२।
३. स्वतन्त्रता की झनकार, प्रथम भाग—उग्र, द्वितीय संस्करण, सन् १९२२, पृ० १८।
४. भारत गीतांजलि—माधव शुक्ल, प्रथम संस्करण, पृ० ३४, सन् १९४७।

सम्पूर्ण भारत को जाग उठने का सन्देश देते हुए मैथिलीशरण गुप्त ने कहा :—

अरे भारत उठ आँखें खोल !
उड कर यन्त्रों से, खगोल में घूम रहा भूगोल।
अवसर तेरे लिए खड़ा है,
फिर भी तू चूपचाप पड़ा है।
तेरा कर्म क्षेत्र बड़ा है,
पल-पल है अनमोल !

—चेतन : स्वदेश संगीत

इस प्रकार बलि होकर भी क्रान्ति का शंखनाद फूँकनेवाले द्विवेदी-युगीन कवियों ने मात्र बलि की ही नहीं, बल्कि कर्मयुक्त बलिदान की भी आकांक्षा की, क्योंकि कर्म से ही क्रान्ति सम्भव है :—

कर्म है अपना जीवन-प्राण,
कर्म पर हो जाओ बलिदान।

कर्मवीर बनने की प्रेरणा देते हुए गुप्तजी ने कहा है :—

वर वीर बन कर आप अपनी विघ्न बाधाएँ हरो।
मर कर जियो, बन्धन विवश पशु-सम न जीते जी मरो।

इस प्रकार द्विवेदी-युग में बलिदान की चिनगारी क्रान्ति की अदम्य ज्वाला बन कर भभक पड़ी, जिसमें अत्याचार, क्रूरता, परतन्त्रता सब के जल जाने की कामना है। भारतेन्दु-युग की अहिंसक और दयनीय क्रान्ति-भावना, इस युग तक स्पष्ट और ओजस्वी स्वरों में अभिव्यक्त होने लगी।

छायावाद-युग

क्रान्ति मूलतः राष्ट्रीय चेतना से उभरती है। राष्ट्रीय चेतना देशभक्ति से उत्पन्न होती है। प्रारम्भ से ही देशभक्ति की भावना मनुष्य में रहती है और परतन्त्रता में यह देशभक्ति और भी मुखर हो उठती है। द्विवेदी-युग में जो राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना पैदा हुई थी, वह छायावाद-युग तक और भी प्रज्वलित हो उठी। भारतेन्दु-युग में जिस वैचारिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ था, वह द्विवेदी-युग में विकसित हुई और छायावाद-युग में उसका उत्कर्ष हुआ।

अतीत गान द्वारा क्रान्ति

पूर्व के दो युगों की भाँति इस युग में भी अतीत के गौरवमय वर्णन द्वारा कवियों ने वर्तमान के प्रति चेतना पैदा की। राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम अतीत गौरव-गान इस युग में भी रहा। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', रामचरित उपाध्याय, सुरेन्द्र, हरिकृष्ण प्रेमी, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी आदि कवियों ने वर्तमान की दयनीय दशा की पृष्ठभूमि पर अतीत गरिमा का जीवन्त चित्रण कर राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना का बहुत प्रसार किया।

प्रसाद में अतीत गौरव-गान की भावना सर्वोच्च रही। उनके नाटकों में यह भावना विशेषतः दिखती है, पर काव्य में भी कम नहीं। 'कामायनी' महाकाव्य की रचना के द्वारा जनता को जातीय उत्कर्ष की ओर उन्मुख किया। नाटकों के गीतों ने इस भावना को बहुत अधिक पुष्टि दी। 'स्कन्दगुप्त' के एक गीत में इन्होंने कहा है कि हिमालय के आँगन में बसा भारत 'प्रथम किरणों' का उपहार पाकर गौरवान्वित है। भारत ने ही सम्पूर्ण विश्व को जगाया है :—

जगे हम लगे जगाने विश्व, विश्व में फैला फिर आलोक।
व्योमतम पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक ॥[१]

'पेशोला की प्रतिध्वनि' में भी महाराणा प्रताप के त्यागमय चरित्र के माध्यम से अतीत का ही गौरव-गान प्रसादजी ने किया है।

निराला ने भी अतीत के गौरव-गान के माध्यम से क्रान्ति-भावना को बल प्रदान किया है। 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता में उन्होंने सिक्खों का उद्बोधन किया है।

उन्होंने सन् १९२२ में 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' शीर्षक कविता लिखी और उसमें शिवाजी के शौर्य को भारत के जन-मानस में प्रतिष्ठापित किया :—

एकीभूत शक्तियों से एक हो परिवार,
फैले समवेदना,
व्यक्ति का खिंचाव यदि जातिगत हो जाय,
देखो परिणाम फिर,
स्थिर न रहेंगे पैर,
पस्त हौसला होगा
ध्वस्त होगा साम्राज्य।[२]

'तुलसीदास' में भी निराला ने राष्ट्र के सांस्कृतिक गौरव का गुणगान किया है। 'तुलसीदास' के रूप में निराला ने आधुनिक कवि के स्वाधीनता सम्बन्धी भावों के उदय और विकास का चित्रण किया है।

सुभद्राकुमारी चौहान और दिनकर भी राष्ट्रीय क्रान्ति के उन्मेष के लिए अतीत गरिमा का सफल चित्रण करते हैं। सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' शीर्षक कविता युग-युग तक क्रान्तिकारियों की प्रेरणा बनी रहेगी :—

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी फिर से आई नयी जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सब ने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सब ने मन में ठानी थी,

---

१. स्कन्दगुप्त—जयशंकर प्रसाद, पृ० १५०, सं० २०११।
२. अपरा—निराला, द्वितीय संस्करण, पृ० ८०-८१, सं० २००९ वि०।

चमक उठी सन् सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।[१]

सुभद्राकुमारी चौहान की उपर्युक्त पंक्तियाँ जन-जन के कण्ठ से फूट पड़ी थी।

'हिमालय' हमेशा-हमेशा से गर्वोन्नत सिर उठाये अजेय खड़ा है। दिनकर ने इसी 'हिमालय' के माध्यम से क्रान्ति भावना को प्रकट किया :—

युग-युग अजेय निर्बन्ध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान।[२]

पर देश के स्वातन्त्र्य का यह हिमालय आज मौन है। इसलिए कवि उसे उन राष्ट्र-नायकों को याद करने को कहता है, जिनमें भारतवर्ष की गरिमा सन्निहित है :—

तू पूछ अवध से, राम कहाँ,
वृन्दा! बोलो, घनश्याम कहाँ
ओ मगध! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ।[३]

वर्तमान स्वतन्त्रता के रणमतवालों को उद्बोधन करते हुए सोहनलाल द्विवेदी ने मेवाड़ देश को जगाया है :—

ऐ रण मतवाले जाग-जाग।
जौहर व्रतवाले जाग-जाग॥
हे स्वतन्त्रता की आग जाग,
हे देश मुकुट मणि जाग-जाग।[४]

अतीत गौरव-गान और अतीत स्मरण के माध्यम से इस युग के अन्य कवियों ने भी राष्ट्रीय क्रान्ति की भावनाओं को स्वर दिया है। रामचरित उपाध्याय ने 'पूर्व रूप' (सरस्वती, जुलाई, सन् १९२५) और 'दैशिक धर्म' (सरस्वती, नवम्बर, सन् १९२५) शीर्षक कविताओं में, श्री सुरेन्द्र ने 'सारनाथ के खण्डहरों' से (विशाल भारत, जनवरी, सन् १९३४) शीर्षक कविता में अतीत स्तवन किया है।

---

१. मुकुल—सुभद्राकुमारी चौहान, पृ० ६४, सन् १९४७।
२. रेणुका—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ४, सन् १९३९।
३. वही, पृ० ६।
४. मेवाड़ के प्रति—सोहनलाल द्विवेदी, चाँद, नवम्बर, सन् १९३१, पृ० १९०।

मातृभूमि के दैवीकरण द्वारा क्रान्ति

राष्ट्रीय क्रान्ति के उन्मेष के लिए प्रत्येक युग के कवि मातृभूमि का दैवीकरण भी करते रहे हैं। छायावाद-युग में भी यह प्रवृत्ति रही। इस काल में भारत की प्राकृतिक शोभा वर्णन की ओर कवियों का ध्यान अधिक रहा। गिरिधर शर्मा 'राष्ट्रीय गान' शीर्षक कविता (सन् १९२०) में अपने देश की सुषमा का उल्लेख यों करते हैं :—

जय जय प्यारे देश! रम्य हमारे देश।
दृग के तारे, जग उजियारे, हिय के प्यारे देश।[१]

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने जन्मभूमि के 'देश-दुःख-दंभ-दुरित-दलनी' स्वरूप का अंकन किया है। साथ ही उसके भव्य स्वरूप का अंकन भी प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ किया है :—

तेरे पद-नख-चारु-चन्द्रमणि-मंडित मौलि जलेश्वर का,
तेरे काश्मीर-कुंकुम-कण-अंकित अंग महेश्वर का।
धन्य-धन-धुरी धर्म-धमनी।[२]

श्री द्विजेन्द्र ने भी भारत के शौर्य और निर्भय का चित्रण किया है :—

पद तल पर विस्तृत है सागर
क्षण-क्षण में भीषण निनाद कर
फैलाता आतंक जगत् पर
किसी का सह्य नहीं आमर्ष।[३]

लोचनप्रसाद पाण्डेय ने भारत-जननी से स्वतन्त्रता के लिए हुंकार करने की प्रार्थना की है :—

तू ख्यात मुक्तिदायिनी अहो त्रिभुवन में,
रखेगा तुझको कौन अंब बन्धन में?
तू स्वतन्त्रता हुंकार प्रखर हुंकारे,
शुभ सत्य आत्मनिर्णय का नियम सुधारे।[४]

'भारति जय-विजय करे' शीर्षक कविता में निराला ने मातृभूमि के उदात्त रूप के चित्रण द्वारा क्रान्ति-भावना प्रकट की है :—

मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव मुखरे।[५]

---

१. राष्ट्रीय गान—गिरधर शर्मा, सरस्वती, दिसम्बर, सन् १९२०, पृ० २८२।
२. जयजय कार—चण्डीप्रसाद हृदयेश, माधुरी, सितम्बर, सन् १९१३, पृ० १५३।
३. भारतवर्ष—द्विजेन्द्र, सरस्वती, जनवरी, सन् १९२१, पृ० २९।
४. भारत स्तुति—लोचन प्रसाद पाण्डेय, माधुरी, दिसम्बर, सन् १९२३, पृ० ५९७।
५. गीतिका—निराला, पृ० ७१, सन् १९९३ वि०।

प्रसाद ने अपने नाटकों में गीतों के माध्यम से मातृभूमि का अत्यन्त रम्य गौरवमय चित्रण किया है। 'चन्द्रगुप्त' में 'कोर्नेलिया' के मुख से मातृभूमि के सौष्ठव की व्यंजना हुई है :—

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।[१]

सुमित्रानन्दन पन्त, रामचरित उपाध्याय आदि कवियों ने भी भारत-माता के विराट् रूप का अंकन किया है। इस प्रकार छायावादी कवियों ने जननी जन्मभूमि के इस विराट् गरिमामय पावन-रूप चित्रण द्वारा राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना की अभिव्यक्ति की है।

वर्तमान के चित्रण द्वारा क्रान्ति

गांधीजी के पदार्पण के साथ ही भारतीय राष्ट्रीयता एक नवीन दिशा की ओर बढ़ी। सत्याग्रह और असहयोग के सहारे उन्होंने राष्ट्रीय चेतना में कर्मयोग की क्रान्ति का आरम्भ किया। द्विवेदी-युग तक राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना उतनी अधिक सक्रिय नहीं हो सकी थी, जितनी अब हुई। अब उसे जन-जीवन का सम्पर्क मिला, लोक शान्ति मिली और कर्म की गतिमयता प्राप्त हुई। इसलिए इस युग में क्रान्ति-भावना एक नवीन शक्ति के साथ अभिव्यक्त होती रही।

इस काल के पूर्व तक की राष्ट्रीय चेतना में ब्रिटिश राज्य के प्रति आस्था के स्वर मिलते रहे हैं। यही कारण है कि लोग औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग करते थे। पर ब्रिटिश राज्य के कारनामों ने इस आस्था को तोड़ दिया। इस आस्था के टूटते ही राष्ट्र में ध्वंसात्मक क्रान्ति का आरम्भ हुआ। लोग परिवर्तन की माँग करने लगे और परिवर्तन की आकांक्षा क्रान्ति को जन्म दिया करती है। दमन और अत्याचार के विरोध की नयी प्रक्रिया आरम्भ हुई। यह थी सत्य और अहिंसा की। इन्हें गांधीजी ने राष्ट्र को प्रदान किया था। पर सत्य का प्रयोग बहुत आसान नहीं था। यही बात अहिंसा के सम्बन्ध में भी है। फिर भी गांधीजी की प्रेरणा इतनी बलवती थी कि सत्य और अहिंसा की यह विधि जन-जन के मन में स्थान बनाने लगी। रक्तपात की जगह सत्याग्रह ने स्थान बनाया और इस प्रकार बलिदान की क्रान्ति से राष्ट्रीय चेतना को नवीन दिशा मिली। इस नवीन चेतना से अनुप्राणित हिन्दी-कवियों ने क्रान्ति के विविध स्वरों को ग्रहण किया तथा लोक-जीवन में अनुस्यूत स्वतन्त्रता की इच्छा को अधिक विद्रोही और शक्तिसम्पन्न किया।

वर्तमान की जैसी और जितनी अभिव्यक्ति छायावाद-युग में हुई, उतनी अन्य युगों में नहीं। इस काल में हिन्दी काव्य में विद्रोह की व्यंजना हुई जो अहिंसक-क्रान्ति के स्वर में प्रकट हुआ।

क्रान्ति की यह भावना हिन्दी काव्य में सर्वप्रथम असहयोग के रूप में प्रकट हुई।

---

१. चन्द्रगुप्त—प्रसाद, पृ० १०७, सं० २००९।

फैले हुए क्षोभ की प्रतिक्रिया के रूप में ही असहयोग का आरम्भ हुआ। दिनकर ने इस क्षोभ को अभीत होकर प्रकट करते हुए कहा :—

'वर्तमान की जय' अभीत हो खुल कर मेरी पीर बजे।
एक राग मेरा भी रण में, बन्दी की जंजीर बजे।[१]

त्रिशूल ने भी 'असहयोग' का सन्देश देते हुए कहा :—

गुलामी में क्यों वक्त तुम खो रहे हो,
जमाना जगा हाय तुम सो रहे हो।
कभी क्या थे पर आज क्या हो रहे हो,
वही बेल हर बार क्यों बो रहे हो,
असहयोग कर दो असहयोग कर दो।[२]

असहयोग की यह वाणी निर्बलता के कारण नहीं, बल्कि सबलता के रूप में गुंजित हो रही थी। इसमें अकर्मण्यता नहीं, विद्रोह तथा क्रान्ति भरी हुई थी। असहयोग क्रान्ति ही है, जो गांधीजी की प्रेरणा से अहिंसात्मक बन चुकी थी। हिंसा और अहिंसा का यह युद्ध अनोखा था। अत्याचार के प्रति भीषण क्रान्ति हिन्दी काव्य में फूट पड़ी थी। पर वह बलिदान के रूप में था। इसीलिए श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'पुष्प' के रूप में प्रकट होकर, केवल यही चाहते हैं कि वे उस भू-पथ पर फेंक दिये जायँ, जिस पर से मातृभूमि के लाल अपने शीश चढ़ाने जायँ :—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली।
उस पथ में तुम देना फेंक॥
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने।
जिस पथ जावें वीर अनेक॥[३]

असहयोगजन्य इस क्रान्ति का चित्रण सुभद्राकुमारी चौहान ने यों किया है :—

पन्द्रह कोटि असहयोगिनियाँ,
दहला दें ब्रह्मांण्ड सखी!
भारत लक्ष्मी लौटाने को
रच दें लंकाकाण्ड सखी![४]

---

१. हुंकार—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २, सन् १९५२।
२. राष्ट्रीय मन्त्र—त्रिशूल, पृ० ३७, सन् १९२१।
३. मरण-ज्वार—माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० १५, प्रथम संस्करण, मार्च, सन् १९६३।
४. मुकुल—सुभद्राकुमारी चौहान, पृ० ९४, सन् १९४७।

सत्याग्रह असहयोग का मूल अंश है। सत्याग्रही अजर-अमर है। अतः वह निर्भीक है। सत्याग्रह रूपी तलवार में चारों ओर तीव्र धार है :—

सत्याग्रह प्रेमास्त्र मनों को हरने वाला,
जिनसे परम विरोध उन्हें वश करने वाला,
क्या मनुष्य, वह नहीं काल से डरने वाला,
अजर-अमर वह, नहीं किसी से मरने वाला।
कहते थे गोखले 'सत्याग्रह' तलवार है।
जिसमें चारों ही तरफ, धरी तीव्रतर धार है।[1]

और आगे सत्याग्रही के कर्तव्यों को बतलाते हुए वे कहते हैं कि सत्याग्रही वही है, जो 'अन्यायी कानून' और 'असत्यादेश' को नहीं माने। ऐसे सत्याग्रहों की 'सत्य के रण' में अवश्य विजय होती है :—

उसका है कर्तव्य जो कि सत्याग्रह ठाने,
अन्यायी कानून असत्यादेश न माने।
छेड़े हर दम रहे प्रेम, आनन्द तराने,
निश्चित अपनी विजय सत्य के रण में जाने॥[2]

सत्याग्रह को कुचलने के लिए दमन की नीति अपनायी गयी। पर सत्याग्रहियों ने दमन का भी स्वागत किया। दमन के विरोध में भी वे चुप रहे। देश-स्वातन्त्र्य उनका लक्ष्य था। उसके लिए वे मर-मिटने को भी तैयार थे। दमन के अत्याचार को सहने के लिए वे कटिवद्ध थे :—

दमन-नीति के भूत-भयंकर।
तू हमको होवेगा—शंकर॥
प्रकटित होगा तुझमें ही सत—
स्वागत! स्वागत!!

× × ×

कारागार स्वर्ग-सम जाना,
अत्याचार सहेंगे—ठाना॥
इनसे दूनी होगी ताकत।
स्वागत-स्वागत।[3]

हिन्दी-कविता में सत्याग्रही-क्रान्ति की प्रत्येक धड़कन बोली है। शीश कटा कर भी वे अन्याय का प्रतिरोध करेंगे। उन्हें विश्वास है कि वे लन्दन का द्वार भी हिला देंगे :—

१, राष्ट्रीय मन्त्र—त्रिशूल, पृ० ५, सन् १९२२।
२. वही, पृ० ६।
३. स्वतन्त्रता की झनकार—प्रथम भाग, उग्र, पृ० १८, सन् १९२२।

नहीं अब सहेंगे हम अन्याय,
शीश यह रहे चहे कटि जाय।
करेंगे असहयोग सरकार,
हिला देंगे लन्दन का द्वार।[1]

इतना ही नहीं, वे इससे प्रसन्न भी हैं, क्योंकि हथकड़ियाँ उनके लिए गहना है। कारावास में कोल्हू का चरमर चूँ उनके लिए जीवन की तान है। मोट खींच कर वे ब्रिटिश राज्य की अकड़ का कुआँ खाली करते हैं :—

हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज का गहना
मिट्टी पर ? अँगुलियों ने लिखे गाने।
कोल्हू का चरमर चूँ ? जीवन की तानें।
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआँ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआँ।[2]

इस प्रकार आलोच्य-काल की हिन्दी-कविता असहयोग और सत्याग्रह की अहिंसक-क्रान्ति-भावना से आच्छादित रही। दमन-चक्र की कटुता, भीषणता और अत्याचार ने क्रान्ति-चेतना को और अधिक गति प्रदान की और इस राष्ट्रीय क्रान्ति-चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति हिन्दी काव्य में हुई है। इस क्रान्ति का मूलाधार स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता से तात्पर्य है, सर्वस्व अपना होना। आकाश धरती सब पर जनता का अधिकार हो। 'निशीथ चिन्ता' में रामनरेश त्रिपाठी ने ऐसा ही स्वराज्य चाहा है :—

अपना ही नभ होगा अपने विमान होंगे,
अपने ही यान जब सिन्धु पार जायेंगे !
जन्मभूमि अपनी को अपनी कहेंगे हम,
अपनी ही सीमा हम अपने रखायेंगे।[3]

क्रान्तिकारी निर्भय होता है। क्रान्ति के लिए निर्भयता आवश्यक है। इसीलिए निराला ने देशवासियों को निर्भय रहने की प्रेरणा दी। निर्भय को स्वाधीनता का पर्यायवाची मानते हुए वे सम्पूर्ण देश को उद्बुद्ध करते हैं :—

समझा मैं
भय ही व्यवस्था का जनक है
निर्भय अपने को
और दुर्बल समाज को
करके दिखाना है—

---

१. जागृत भारत—माधव शुक्ल, पृ० १३, सन् १९२२।
२. हिमकिरीटिनी—माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० १५, सं० १९९८।
३. निशीथ चिन्ता—रामनरेश त्रिपाठी, सरस्वती, अगस्त, सन् १९३०, पृ० १२१।

स्वाधीन का ही
एक और अर्थ निर्भय है।[1]

परतन्त्रता के प्रति यह निर्भयता विद्रोह करती है और यही विद्रोह-भावना क्रान्ति बनकर प्रकट होती है। 'जागो फिर एक बार' में निराला इसी से देश की जनता का आह्वान करते हैं कि तुम पशु नहीं, वीर हो। कालचक्र में पड़ कर भले ही दबे हो, पर तुम 'समर सरताज' और हमेशा मुक्त रहे हो :—

आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार
× × ×
पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर, क्रूर नहीं,
काल चक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर,
समर सरताज!
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध चन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द रूप।[2]

उपर्युक्त विवेचन से एक बात और स्पष्ट है कि इस युग की क्रान्ति-भावना के दो रूप हैं—एक, विध्वंसात्मक और दूसरा, त्याग द्वारा क्रान्ति। इन्हें ही हिंसक क्रान्ति और अहिंसक क्रान्ति कह सकते हैं। इनमें अहिंसक क्रान्ति का स्वर बलवान रहा।

अहिंसक क्रान्ति रक्त लेना नहीं, देना जानती है। स्वतन्त्रता के लिए भारतीय सत्याग्रहियों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। वे न केवल अपने प्राणों को, बल्कि समस्त भूमण्डल को मातृभूमि की बलिवेदी पर अर्पित करना चाहते हैं। हिन्दी-काव्य में यह स्वर यों अभिव्यक्त हुआ :—

जय स्वतन्त्रिणी भारत माँ
यों कहकर मुकुट लगाने दो।
हमें नहीं, इस भूमण्डल को,
माँ पर बलि बलि जाने दो।[3]

ऐसे स्वतन्त्रताकांक्षी रण-क्षेत्र में अपना शीश सहर्ष अर्पित कर देते हैं :—

बोते रण-खेत में हैं शीश वे सहर्ष, जिसे
जाति है रखाती जागती, वे पड़े सोते हैं।

---

१. स्वाधीनता पर—निराला, संख्या ३, सन् १९२४. पृ० ४१।
२. अपरा—निराला सं० २००९ वि०, पृ० ९-१०।
३. मुकुल—सुभद्राकुमारी चौहान, पृ० ९५, सन् १९४७।

जग में उजाला करने को जो निज शोणित से
दीपक स्वतन्त्रता का सूरमा सँजोते हैं।[1]

वलिदान की महत्ता के प्रमुख गायकों में माखनलाल चतुर्वेदी हैं। इनकी क्रान्ति-मय कविताओं ने देश में उत्सर्ग-पर्व का आयोजन करके स्वतन्त्रता पर मर मिटनेवालों की एक सेना ही तैयार कर दी, जिसके समक्ष साम्राज्यवाद के पाँव डगमगाने लगे। 'पुष्प की अभिलाषा' प्रत्येक जन-जन की अभिलाषा थी। वे मिट जाने में ही हरियाली देखते हैं :—

मैंने मिट जाने में सीखा
है जग में हरियाना,
मेरी हरियाली दुनिया है
मिट्टी में मिल जाना।[2]

'मैं हूँ एक सिपाही' में भी उन्होंने तत्कालीन स्वातन्त्र्य आन्दोलन के लिए बड़ी ही क्रान्तिकारी प्रेरणा दी है :—

श्रम सीकर प्रहार पर जीकर बना लक्ष्य आराध्य,
मैं हूँ एक सिपाही, बलि है मेरा अन्तिम साध्य।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का सारा काव्य इसी प्रकार के उत्सर्ग की भावना से उद्दीप्त है। उनके ये गीत क्रान्ति-जागरण की मशाल हैं। उन्होंने देश की लड़ाई में स्वयं भाग लिया था और अपने गीतों के द्वारा जनता को उद्बुद्ध भी किया।

इस युग के हिन्दी-काव्य में क्रान्ति के दूसरे सबल गायक दिनकर रहे हैं। पर इनके काव्य में क्रान्ति का ध्वंसात्मक रूप अधिक उभरा है। वैसे इन्होंने बलिदानियों की प्रशस्ति भी की। वे जीवनदानियों को मृत्यु से अभीत रहने को कहते हैं :—

जो अशेष जीवन देता है, उसे मरण-सन्ताप नहीं,
जल कर ज्वाला हुआ, उसे लगता ज्वाला का ताप नहीं।[3]

दिनकर राष्ट्रीय क्रान्ति के लिए अपने प्राणों को उत्सर्ग करनेवाले वीरों की कीर्ति-गाथा गाते हैं :—

जग भूले, पर मुझे एक बस सेवा-धर्म निभाना है,
जिसकी है यह देह, उसी में इसे मिला मिट जाना है।[4]

कवि अपनी कलम से कहता है कि वह उनका जयगान करे जो पुण्यवेदी पर अपनी गरदन का मोल लिये बिना ही चढ़ गये :—

कलम आज उनकी जय बोल।
जला अस्थियाँ बारी-बारी

---

१. स्वतन्त्रता का दीपक—रामनरेश त्रिपाठी सुधा, नवम्बर, सन् १९२७, पृ० ३६१।
२. हिमकिरीटिनी—माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० २६, सं० १९९८।
३. हुंकार—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ५८, सन् १९५२।
४. वही, पृ० ६०।

छिटकायी जिनने चिनगारी,
जो चढ़ गये पुण्य-वेदी पर लिये बिना गरदन का मोल
कलम आज उनकी जय बोल ।[१]

सोहनलाल द्विवेदी भी राष्ट्रीय क्रान्ति के प्रबल गायकों में रहे हैं। स्वतन्त्रता के लिए वे दासत्व से मुक्ति की कामना करते हैं और प्राणों की बाजी लगाने को कहते हैं :—

भीम और अर्जुन के पुत्रों,
बने हुए हो दास।
ऐसे पराधीन जीवन से
मधुर मृत्यु का पाश।[२]

ऐसे वीरों की आहुतियों से यज्ञ-कुण्ड जलने लगा है, पर कवि को भय है कि कहीं बिना लक्ष्य प्राप्ति के ही यह ज्वाला मन्द न पड़ जाय। इसलिए वह नव-नव आहुतियों को आहूत करता है :—

धधक रही है यज्ञ कुण्ड में
आत्माहुति की शीतल ज्वाला,
होता! मन्द न पड़े हुताशन
नव नव अभिनव आहुतियाँ ला।[३]

इस प्रकार तत्कालीन युग के अनेक कवियों ने बलिदान के गीत गाकर अहिंसक क्रान्ति की चिनगारी जलायी। यही बलिदान-भावना उग्र होकर हिंसक-क्रान्ति के रूप में भी उभरी है। वस्तुतः उस काल के कई हिन्दी कवि इस ऊहापोह में हैं कि कौन सी राह अपनायें। उन्होंने कभी बलिदान के गीत गाये तो कभी क्रान्ति के लिए हुंकार भरा। मूक बलिदान धैर्य माँगता है। पर धैर्य की सीमा होती है। इसीलिए वे धैर्य से घबड़ाकर अहिंसक क्रान्ति का आह्वान करते हैं। मूक प्राणों को हुंकार कर जागने की प्रेरणा देते हैं। दिनकर युग के मूक शैल को पुकारते हैं—

नये प्रात के अरुण! तिमिर-उर में मरीचि संधान करो,
युग के मूक शैल! उठ जागो, हुंकारो कुछ गान करो।[४]

दिनकर मूलतः हिंसक क्रान्ति के ही गायक रहे हैं। क्रान्ति कुमारी को वे स्पष्ट जगाते हैं—

उठ वीरों की भाव तरंगिणि
दलितों के दिल की चिनगारी

---

१. हुंकार—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० ३८, सन् १९५२।
२. जागो हुआ विहान—युगाधार—सोहनलाल द्विवेदी, पृ० ४२, सं० २००१।
३. कैसी देरी—युगाधार—सोहनलाल द्विवेदी, पृ० ९०, सं० २००१।
४. रेणुका—रामधारी सिंह दिनकर, पृ० २२, सन् १९३९।

युगमर्दित यौवन की ज्वाला
जाग-जाग री क्रान्ति कुमारी।

नये युग की भवानी को प्रलय बेला में पुकारते हैं—

हृदय की वेदना बोली लहू बन लोचनों में,
उठाने मृत्यु का घूँघट हमारा प्यार बोला,
नये युग की भवानी आ गयी वेला प्रलय की।
दिगम्बरि ! बोल, अम्बर में किरण का तार बोला।[१]

कवि के इस आह्वान पर 'विपथगा' आ पहुँचती है—

जब हुई हुकूमत आँखों पर, जनमी चुपके मैं आहों में,
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में,
सोने-सी निखर जवान हुई तप कड़े दमन की दाहों में,
ले जान हथेली पर निकली मैं मर मिटने की चाहों में,
मेरे चरणों में खोज रहे भय-कंपित तीनों लोक शरण[२]।

इसी प्रकार दिनकर ने ताण्डव, आलोकधन्वा, स्वर्ग-दहन आदि कई कविताओं में हिंसक-क्रान्ति की अभिव्यक्ति की है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी हिंसक-क्रान्ति के गायक हैं। वे स्पष्ट क्रान्ति का आह्वान करते हुए कहते हैं—

क्रान्ति ? क्रान्ति ? मेरे आँगन में
यह कैसा हुंकार मचा ?
बोलो तो यह किसने अपने—
श्वासों का फुंकार रचा ?
+ + +
आओ क्रान्ति, वलायें ले लूँ,
अनाहूत आ गयी भली,
वास करो मेरे घर आँगन,
विचरो मेरी गली-गली,
+ + +
नयी अग्नि ज्वाला भड़का दो तुम मेरे अन्तरतर में
अरी, नये नक्षत्र जगा दो मेरे धूमिल अम्बर में।[३]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि स्पष्टतः क्रान्ति से अग्नि-ज्वाला भड़काने की प्रार्थना करता है।

---

१. हुंकार— ,, ,, पृ० २६, सन् १९५२।
२. वही, पृ० ७५।
३. हम विषपायी जनम के—बालकृष्णशर्मा नवीन, पृ० ४४०–४४१, सन् १९६४।

कवि को धैर्य नहीं है। वह शान्ति से भर चुका है। अब परिवर्तन चाहता है। परिवर्तन की यह चाहना ही उसे क्रान्ति की उत्प्रेरणा देती है और वह 'विप्लव गायन' कर उठता है—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि स्वर नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जाये भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप पुण्य सद्-सद् भावों की धूल उड़े उठ दायें-बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें,
कवि कुछ... ... ...[1]

स्पष्ट है कि कवि आकाश, पृथ्वी सब का विध्वंस कर क्रान्ति चाहता है।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी में भी क्रान्ति का यह विद्रोही रूप यत्र-तत्र है। वे नित नवीनता चाहते हैं, रूढ़ि नहीं—

हम हैं नहीं रूढ़ि की
पुस्तक के पथरीले भार,
नित नवीनता के हम हैं
जग के मौलिक उपहार।[2]

यही कारण है कि उनकी विद्रोहिणी सिपाहिनी चूड़ियाँ त्यागकर क्रान्ति के युद्ध में कूदना चाहती है। अब उसका शृंगार तीर-कमान और जिरह-बख्तर होगा—

चूड़ियाँ बहुत हुईं कलाइयों पर
प्यारे, भुजदण्ड सजा दो,
तीर कमानों से सिंगार दो,
जरा जिरह बख्तर पहना दो।[3]

नरेन्द्र शर्मा भी क्रान्ति के लिए शिव का आह्वान करते हैं। वे चाहते हैं कि शिव निर्दय संसार पर ताण्डव नृत्य करें, जिससे धरती मरघट का रूप धारण कर ले—

नाचो शिव, इस निर्दय जग पर,
अन्यायी के आडम्बर पर,
ज्वाला के भूधर से नाचो
पहन चिता के चपल लपट-पट
निखिल विश्व हो अवघट मरघट।

---

१. हम विषपायी जनम के—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', पृ० ४२९, सन् १९६४।
२. हिमकिरीटिनी—माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० ५७, सं० १९९८।
३. वही, पृ० १३९।

नाचो, रुद्र, नृत्य प्रलयंकर ।
नाचो ताण्डव नृत्य भयंकर ।[1]

लक्ष्यहीन क्रान्ति-आह्वान

श्री शंभुनाथसिंह ने छायावाद युगीन इस क्रान्ति भावना को 'अराजकतावादी प्रलय आह्वान'[2] कहकर इसे लक्ष्यहीन घोषित किया है। वर्तमान की प्रतिक्रियास्वरूप इन क्रान्तिकारी कवियों ने प्रलयंगान किया। तत्कालीन अत्याचार के फलस्वरूप यह विद्रोह प्रकट हुआ। इसलिए यह क्रान्ति उद्देश्यहीन थी, यह नहीं कहा जा सकता। यह क्रान्ति मूलतः क्रूर शासन के उन्मूलन के लिए ही प्रकट हो रही थी। वैसे इस क्रान्ति-भावना पर तत्कालीन आतंकवाद और अराजकतावाद का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा, पर मूलतः इसमें स्वराज्य प्राप्ति की ही आकांक्षा है। अतः इसे अराजकतावाद और लक्ष्यहीन नहीं कह सकते। क्रान्ति नाश के बाद निर्माण चाहती है। तत्कालीन क्रान्ति में भी क्रूर शासन के विध्वंस के साथ ही साथ स्वराज्य-स्थापना की कामना है, जिसे हिन्दी-काव्य में अभिव्यक्ति मिली।

प्रगतिवाद युग

राष्ट्रीय क्रान्ति की विचारधाराएँ हिन्दी-काव्य में जिस प्रकार छायावाद युग में अभिव्यक्त हो रही थीं, प्रगतिवाद युग में वैसी नहीं रहीं। इस युग का परिवेश भिन्न हो गया था अतः भिन्न आयामों से सन्नद्ध होकर वह अभिव्यक्त होने लगी।

छायावादी कवि मूलतः स्वतन्त्रता की आकांक्षा और असन्तोष की भावना से ग्रस्त था। उसकी ये भावनाएँ क्रान्ति-भावना के रूप में प्रकट हो रही थीं। प्रगतिवाद में यह क्षोभ तथा असन्तोष और उत्तेजित हो उठा। फलस्वरूप क्रान्ति की विचारधाएँ नयी राहों से आगे बढ़ीं, जिनकी विवेचना प्रस्तुत है।

अतीत गानमें अनास्था

अन्य युगों की भाँति प्रगतिवाद में अतीत गौरव-गान की परम्परा नहीं रही। यों, ऐसा नहीं कि अतीत का स्मरण किया ही न गया हो, किन्तु पूर्व युगों की तरह अतीत की यश-गाथा न गाकर कुछ भिन्न ही प्रकार से अतीत स्मरण किया गया। अतीत गौरव-गान वर्तमान की अधोगति के कारण होता रहा है। अतीत के स्मरण द्वारा वर्तमान के प्रति क्षोभ और असन्तोष को अभिव्यक्त करना ही कवियों का इष्ट रहा है। छायावाद में अतीत-गान बहुत हुआ, पर प्रगतिवाद में कई कारणों से यह धारा मन्द पड़ गयी। इनमें निम्नांकित मुख्य हैं।

प्रगतिवादी आदर्शवादी न होकर यथार्थवादी हैं। यथार्थ में अतीत की ओर नहीं, वरन् वर्तमान की कठोर भूमि पर रहा जाता है। इसीलिए प्रगतिवादियों को शोषण,

१. प्रभात फेरी—नरेन्द्र शर्मा, पृ० १०३, सन् १९३९।
२. छायावाद युग—शम्भूनाथ सिंह, पृ० ६३, सन् १९५२।

अत्याचार, दमन आदि की क्रूर भूमि पर ही इतना टकराना पड़ा कि उन्हें स्वर्णिम अतीत की ओर जाने का अवकाश ही नहीं था। वर्तमान चित्रण के द्वारा ही वे क्रान्ति के उन्मेष में लगे रहे।

परम्परा से विद्रोह छायावाद युग में ही आरम्भ हो चुका था। प्रगतिवाद में परम्परा को त्याग दिया गया। इसीलिए अतीत गान की परम्परा भी नष्ट हो गयी।

प्रगतिवाद प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति लेकर आया। पुराने का इसने सर्वथा बहिष्कार किया। प्राचीन व्यवस्थाओं में भी इसने विश्वास नहीं किया और इसीलिए प्राचीन गौरव-गाथा की ओर भी ध्यान नहीं दिया।

इस काल में मुसलमान अपने अलग राष्ट्र की माँग के लिए आन्दोलन कर रहे थे। पर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दू-मुस्लिम एकता हो। इस स्थिति में यदि हिन्दी कवि हिन्दुओं की अतीत महिमा गाते रहते तो स्वभावतः मुसलमानों के मन में पृथकत्व की भावना जागती। इसीलिए हिन्दी काव्य-धारा ने अतीत गान के मोह को छोड़ दिया।

इस युग में विद्रोह बहुत अधिक था। सम्पूर्ण परिवेश उबाने वाला था और ऊब के कारण क्रान्ति भावना चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। जवानों ने सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व को पसन्द किया—गांधी के समझौतावाद को नहीं, क्योंकि सुभाष की प्रेरणा विद्रोही थी। इस विद्रोही मनःस्थिति में परम्परा-गान का अवकाश नहीं था।

प्रगतिवादियों का यह भी कहना था कि अतीत की ओर लौटना पलायन है। वर्तमान संघर्ष ही उनका प्रधान लक्ष्य रहा। असंगतियों को मिटाना ही उनका ध्येय रहा। वर्तमान के प्रति वे अत्यधिक जागरूक थे, इसलिए वर्तमान चित्रण ही उनका लक्ष्य रहा और अतीत-गान को वे भूल गये।

उपर्युक्त कारणों से इस युग में अतीत-गान परम्परा का लोप हो गया।

वर्तमान चित्रण में युगीन क्षोभ व आक्रोश

युगीन क्षोभ और आक्रोश को लेकर छायावाद युग में भी राष्ट्रीय क्रान्ति-भावना का प्रस्फुटन हुआ था, पर वह क्रान्ति-भावना एक सीमा तक आत्मनिष्ठ थी। प्रगतिवाद में यह भावना समाजनिष्ठ हुई। समाजनिष्ठ होने का एक प्रधान कारण था, इसका न केवल राजनीतिक दासता से मुक्त होने का प्रयत्न, वरन् आर्थिक दासता से भी मुक्ति।

इस युग की क्रान्ति-भावना में प्रलय के आह्वान के साथ ही साथ एक नवीन मानवता के विकास की इच्छा भी प्रकट की गयी है। दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, नवीन आदि में अहिंसात्मक क्रान्ति है, पर नयी मानवता के लिए उतना आग्रह नहीं। इस नवीन मानवता की आकांक्षा देश में व्याप्त दैन्य भावना के कारण हुई। इसीलिए सुमित्रानन्दन पन्त तीस कोटि भारत सन्तानों को नग्न तन, अर्ध क्षुधित, शोषित, मूढ़, असभ्य, अशिक्षित देखकर व्यथित हो जाते हैं—

तीस कोटि सन्तान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन ।[1]

यही कारण है कि इस युग में प्राचीन को पूर्णतः नष्ट कर सर्वथा नवीन के स्थापन की बलवती आकांक्षा अभिव्यक्त हुई है—

नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वंश भ्रंश जग के जड़ बंधन ।
पावक पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन ।

मानवता के भीषण शोषण की भयंकरता के अनुभव ने कवियों को प्रेरणा दी कि वे शृंखलाएँ तोड़कर मूक मानवता के उत्थान के दर्शन करें—

दमन-शोषण-चक्र में अगणित युगों तक पिस चुकी है,
मूक मानवता न जाने कष्ट कितने सह चुकी है,
मुक्ति का सन्देश पा यह आज सहसा उठ रही है-
तोड़ने को शृंखलाएँ, बद्ध जिनमें रह चुकी हैं ।[2]

इस युग तक राजनीतिक परिवेश ऐसा हो गया था कि स्वतन्त्रता की आस बँध गयी थी । वर्ग-चेतना भी बहुत व्याप्त हो चुकी थी और शोषित जन जाग उठे थे । असन्तोष बहुत अधिक था । असन्तोष से उत्पन्न क्रान्ति का स्वर दिनकर और नवीन में भी है । उसी स्वर को जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने भी वाणी दी है—

धीरे-धीरे युग-परिवर्तन की आहट आती जाती है,
गहन घटा-सी क्षितिज-पटल पर घिर-घिर कर छाती जाती है ।
क्या अगले तूफानों में तू अपना भार सँभाल सकेगा ?
एकाकी असहाय नाश की वेला कब तक टाल सकेगा ?[3]

क्रान्ति के द्वारा कवि को एक नयी आशा है कि अब बन्धन की कड़ियाँ छिन्न हो रही हैं—

बन्धन की कड़ियाँ छिन्न हुई जाती हैं,
नूतन कविताएँ मुक्ति गीत गाती हैं,
आडम्बर, कल्मष भस्म सभी कर देगी
मानव-उर से ऐसी ज्वाला निकलेगी
कल्याण-क्रान्ति का मन्त्र मिला है प्यारा,
जीवन-नायक वह तेरा एक इशारा ।[4]

---

१. आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ८५, सं० २०१० वि० ।
२. नवयुग के गान—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पृ० ३ सं० १९९९ ।
३. वहीं, पृ० ६ ।
४. वहीं, पृ० ४१ ।

मार्क्सवाद का प्रभाव

पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है कि प्रगतिवाद युग मार्क्सवाद से प्रभावित था। यही कारण था कि इस समय हिन्दी काव्य में यदि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के लिए क्रान्ति के स्वर हैं, तो साथ ही पूँजीवादी के उन्मूलन की आकांक्षा भी है। इसलिए इस काल की कविताओं में क्रान्ति की प्रखर भावना है। कवि जानता है कि वेड़ियाँ अश्रु-धारों से छिन्न नहीं होंगी। दर्द दुलार से दूर नहीं होगा और दासता मात्र पुकार से ही दूर नहीं होगी।

जंजीर टूटती कभी न अश्रु-धार से
दुख-दर्द भागते नहीं दुलार से
हटती न दासता पुकार से गुहार से
इस गंग तीर बैठ आज राष्ट्र शक्ति की
तुम कामना करो किशोर कामना करो।[1]

तत्कालीन क्रान्ति की विचार-धाराओं के मूल में दुखी मानवता का क्षोभ भरा हुआ है। इसीलिए कवि कहता है—

जो बने वाणी नये युग की वही मेरी कला है
मनुजता के व्यथित उर के क्षोभ की हुंकार हूँ मैं।
पीड़ितों के उमड़ते विद्रोह की अभिव्यक्ति हूँ मैं,
वंचितों का स्वत्व, दलितों का सखा, आधार हूँ मैं।[2]

रामदयाल पाण्डेय बलिदान के लिए तत्पर हैं, क्योंकि उन्हें अन्धकार से उबर कर, नये प्रकाश से संसार भर जाय, इसकी आकांक्षा है—

तिमिर ग्रस्त भव को, ज्योतिर्मय
क्या प्रकाश का दान न दोगे
कोटि-कोटि जन्मों के बदले
एक बार बलिदान न दोगे।[3]

सोहनलाल द्विवेदी भी रक्तदान करनेवालों के लिए मतवाले हैं, क्योंकि वलिदान के माध्यम से की गयी क्रान्ति उन्हें प्रिय है—

हम तो हैं इनके मतवाले
वलि पथ पर जो रक्त चढ़ाते
विजय मिले या मिले पराजय
अपने शीश अर्घ दे जाते।

कवि को विश्वास है कि ऐसे ही संघर्षों में राष्ट्र का निर्माण होता है। क्रान्तिकारी विजय और पराजय की परवाह नहीं करते, क्योंकि क्रान्ति धीरे-धीरे राष्ट्र-निर्माण करती है—

---

१. नवीन—गोपालसिंह नेपाली, पृ० १, सं० २००२।
२. नवयुग के गान—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' पृ० ३, सं० १९९९।
३. गण देवता—रामदयाल पाण्डेय, पृ० १३२, सं० २०००।

आज राष्ट्र निर्माण हो रहा
अपना शत-शत संघर्षों में
धूप-छाँह-सी विजय-पराजय
राष्ट्र पनपता है वर्षों में ।[१]

इस प्रकार इन कवियों ने बलिदान के माध्यम से अहिंसक क्रान्ति की कामना की है। छायावाद युग में क्रान्ति की व्यक्तिगत चेतना थी और इसीलिए बलिदान का भाव रहा। प्रगतिवाद युग का भी कोई-कोई कवि अहिंसा पर विश्वास करके बलिदान द्वारा ही देशोद्धार का आकांक्षी रहा।

पर अब तक अधिकांश जनता की श्रद्धा गांधीवाद से हटने लगी थी। अतः अहिंसक क्रान्ति पर से भी उनका विश्वास डिग रहा था। परतन्त्रता से ऊबकर अब वे किसी भी तरह स्वतन्त्रता पाना चाहते थे। साम्राज्यवाद के घोर विरोधी होने के कारण वे उसका विनाश किसी भी मूल्य पर चाहते थे। इसीलिए अब वे हिंसात्मक क्रान्ति की ओर अधिक झुकने लगे।

इसीलिए आज के कवि फूल से पैदा होकर भी आग से खेलते हैं। वे जहर पी रहे हैं, फिर भी अमृत से घनिष्ठता है—

फूल से उत्पन्न हूँ मैं, आग से है खेल मेरा,
जी रहा हूँ मैं गरल पी, है अमिय से मेल मेरा ।[२]

अब कवि स्वयं को क्रान्ति की हुंकार मानने लगे; शक्ति, जीवन और जागरण का सबल संसार मानने लगे—

हुंकार हूँ, हुंकार हूँ, मैं क्रान्ति की हुंकार हूँ।
मैं न्याय की तलवार हूँ।
शक्ति, जीवन, जागरण का मैं सबल संसार हूँ ।[३]

इस युग में भी कुछ कवि थोड़ी देर के लिए दुविधाग्रस्त हो जाते हैं कि राष्ट्र के लिए विप्लव अच्छा है या बलिदान। 'मिलिन्द' भी ऐसे ही कवियों में से एक हैं। पर वे दूसरे ही क्षण आश्वस्त हो जाते हैं कि अब 'दान' और 'विधान' से काम नहीं चल सकता। इसीलिए वे 'क्रान्ति की ज्वाला' जलाने का आह्वान करते हैं—

फिर उठो फिर क्रान्ति की ज्वाला जलाओ
छोड़ यह पथ 'दान' और 'विधान' का तुम,
राष्ट्र का इतिहास फिर उज्ज्वल बनाओ
स्वत्व का, संघर्ष का, बलिदान का तुम ।[४]

---

१. उगता राष्ट्र—सोहनलाल द्विवेदी, विशाल भारत, पृ० ५०६, मई सन् १९३९।
२. अंगार हैं शृंगार मेरे—सुधीन्द्र, विशाल भारत, जुलाई सन् १९४३, पृ० ६९९।
३. गीत—महेन्द्र, विशाल भारत, मार्च, सन् १९४४, पृ० १८९।
४. बलिपथ के गीत—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पृ० ९५, सन् १९५०।

द्विधा की यह स्थिति १९४६ में रही थी, क्योंकि देश-स्वातन्त्र्य के क्षण बहुत नजदीक थे और विधान के माध्यम से लक्ष्य प्राप्ति नहीं होते देखकर वे विप्लव की राह अपनाना चाहते थे।

यही कारण था कि आज का कवि स्पष्ट कहने लगा कि हम वे नहीं हैं, जिन्हें कुचल-कुचल कर दुनिया चलती जायेगी। इसीलिए वह ऐसे प्रलय गीत गाना चाहता है कि सारी दुनिया में आग लग जाय—

हम वे नहीं कि जिनको दुनिया कुचल-कुचल कर चली जाये।
हम वे नहीं कि जिनका मस्तक कभी न ऊपर उठने पाये।
आँखों में, दिल में, प्राणों में, नस-नस में उन्माद जगा दें।
ऐसा प्रलय गीत गावें जिससे दुनिया में आग लगा दें।

छायावाद-युग के बलिदान के समर्थ पक्षपाती कवि पं० माखनलाल चतुर्वेदी भी अब सुधार और समझौता पसन्द नहीं करते। उन्हें अब लगता है कि यह ठिठोली है। इसीलिए अब वे हिंसक क्रान्ति चाहते हैं—

अमर राष्ट्र उद्दण्ड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र, यह मेरी बोली,
यह सुधार समझौतों वाली, मुझको भाती नहीं ठिठोली।
यह मैं चला पत्थरों पर चढ़, मेरा दिलवर वहीं मिलेगा,
फूँक जला दे सोना-चाँदी, तभी क्रान्ति का सुमन खिलेगा[१]।

दिनकर भी अत्याचार से ऊब चुके हैं। इसीलिए वे भी हिंसात्मक क्रान्ति चाहते हैं—

देश की मिट्टी का असि वृक्ष, गान तरु होगा जब तैयार,
खिलेंगे अंगारों के फूल, फलेगी डालों में तलवार।
चटकती चिनगारी के फूल, सजीले वृंतों के शृङ्गार,
विवशता के विषजल में बुझी गीत की, आँसू की तलवार[२]।

आज के कवि को विश्वास है कि तरुण क्रान्ति में जग जीवन की भ्रान्ति जल जायगी और संसार की राख पर एक नये संसार की रचना होगी—

तरुण क्रान्ति की अग्नि शिखा में
जग-जीवन की भ्रान्ति जलेगी
जग की राखों पर सुलगेगा एक नया संसार[३]।

साम्राज्यवाद के मूलोच्छेदन के लिए सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया गया था। इसी के लिए उस साल अगस्त क्रान्ति हुई थी और फलस्वरूप कई स्थानों से ब्रिटिश शासन को कुछ समय के लिए मिटाकर स्वतन्त्र शासन की स्थापना की गयी थी। तब क्रान्ति-गीत के गायक 'मिलिन्द' ने गाया—

---

१. गीत—भारतीय आत्मा, योगी, नवम्बर सन् १९४५, पृ० ९।
२. फलेगी डालों में तलवार—दिनकर, योगी, नवम्बर सन् १९४५, पृ० ३।
३. नवीन—गोपाल सिंह नेपाली, पृ० २४, सं० २००२ वि०।

दृढ़ निश्चय के बाद हमारे हाथों में अब आजादी है ।
टूटे बन्धन, मिटी गुलामी, खत्म समझ लो बरबादी है ।
नयी जिन्दगी, नया वतन अब, नये विचारों की है धारा ।
हैं स्वतन्त्र सब भारतवासी, भारतवर्ष स्वतन्त्र हमारा[1] ।

अगस्त आन्दोलन में माधव शुक्ल ने भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद गीतों की रचना की । द्विवेदी युग से लेकर प्रगतिवादी युग तक ये राष्ट्रीय-क्रान्ति के प्रबल गायक रहे । ब्रिटिश-शासन पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा है कि मार्शल ला के बावजूद तरुण अपने रक्त द्वारा देश में क्रान्ति की लहर फैला रहे थे—

भगवान भला करे एमरी का बने यशस्वी ब्रिटिश निशान,
होय निहत्थों पर मारकल्ला शहरों गाँवों के दर्म्यान ।
नर नारी बच्चों को गोरे अत्याचारी खूब हनें,
भारत के कोने-कोने में जालियाँवाला बाग बने ।
चिन्ता नहीं बहे लहराता चहुँदिशि खून जवानों का
बिन स्वराज के नहीं हटेंगे कौल रहे मरदानों का ।[2]

उदयशंकर भट्ट ने भी क्रान्ति के गीत गाये । वे स्वयं को महानाश की मूर्ति मानते हैं और उन्हें विश्वास है कि उनके संकेत पर सब नष्ट हो जायगा । उन्हें तत्कालीन शासक 'लघु' लगते हैं और राजतन्त्र कीट लगता है—

ये और कीट से लघु शासक,
ये और कीट से राज तन्त्र,
मेरे आगे कब टहर सके
मैं महानाश का महामन्त्र[3] ।

इस युग में साम्प्रदायिक-मतभेद अत्यन्त उग्र हो गया था । पर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के लिए एकता की आवश्यकता थी । इसलिए प्रगतिवादी कवियों ने एकता-प्रेरक कविताएँ भी कीं । इसी समय लीग ने अलग राज्य की माँग की । इसे कोई भी राष्ट्रवादी मानने को तैयार नहीं था । यद्यपि आगे चलकर पाकिस्तान के रूप में यह माँग प्रतिफलित हुई ही । तो भी हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय क्रान्ति की भावना दृढ़तर हो सके, इसके लिए कवियों ने एकता के गान गाये ।

एकता का गान

क्रान्ति की सफलता के लिए सभी जातियों की एकता आवश्यक है । जन बल में अपूर्व क्षमता है । पर उस बल का उपयोग तभी सम्भव है, जब एकता हो । इसीलिए [illegible] प्रेमी एकता का आह्वान करते हैं जिससे महाक्रान्ति का घूँघट खुले—

1. [illegible] गीत—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पृ० ८९, सन् १९५० ।
2. [illegible]—माधव शुक्ल, पृ० ५६, सन् १९४७ ।
3. [illegible]—उदयशंकर भट्ट, [illegible], सन् १९६९, पृ० १८२ ।

एक-एक ईंधन की लकड़ी
अलग-अलग क्यों सुलगे बोलो।
जलो साथ मिल लपटें लपकें
महाक्रान्ति का घूँघट खोलो[1]।

'जिन्ना और जवाहर' शीर्षक कविता में सोहनलाल द्विवेदी ने दोनों नेताओं की तुलना की है। वे स्पष्ट समझते हैं कि दोनों नेताओं का विरोध देश के लिए बड़ा घातक है। अतः वे वैभिन्य मिटाकर देश के सूत्रधार बनने की अपेक्षा करते हैं—

फिर भी क्या आयेगा वह दिन
गत होगा अन्तर-अन्धकार ?
ये बैठेंगे मिल एक साथ
बन कर स्वदेश के सूत्रधार।[2]

इस प्रकार इस युग में राष्ट्रीय क्रान्ति के लिए कवि एकता का गान भी करते रहे। भले ही व्यवहार में यह एकता कायम न हो सकी और देश का विभाजन हो गया।

मातृभूमि की वन्दना

अन्य युगों की तरह प्रगतिवाद युग में भी भूमि का गौरव-गान हुआ। पर इसकी मात्रा अन्य युगों की अपेक्षा बहुत कम रही। ऐसा नहीं कि मातृभूमि के प्रति प्रेम और श्रद्धा नहीं रह गयी थी या भूमिगत एकता का भाव नहीं रह गया था, बल्कि यह भावना ज्यों-की-त्यों थी। तभी तो बलिदान और क्रान्ति के भाव उत्पन्न हुए थे। पर अत्यधिक बौद्धिकता के कारण इस युग में पूजा और आराधना से लोगों का विश्वास हट रहा था। कारण, बौद्धिक चेतना द्वारा श्रद्धा के बाह्य उपचार कम हो जाते हैं। अतः जन्मभूमि की पूजा और आराधना कम हुई।

मातृभूमि की वन्दना कम हो जाने का एक कारण यह भी रहा कि साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण पाकिस्तान के निर्माण ने इस भावना पर ठेस पहुँचाई। भूमि की एकता छिन्न हो गयी थी। हिन्दुस्तान मात्र हिन्दुओं का देश लगने लगा और इसीलिए भूमि के प्रति अगाध प्रेम की अभिव्यक्ति भी कम होने लगी।

इस समय समस्याएँ बहुत बढ़ चुकी थीं और लोग समस्याओं में उलझे हुए थे। यथार्थ से उन्हें जूझना पड़ता था। अतः भावनात्मक कार्यों की ओर वे ध्यान नहीं दे पाते थे। अतः वे जन्मभूमि के दैवी रूप के गीत भी कम गाते थे।

इन सब कारणों के बावजूद मातृभूमि की वन्दना के द्वारा कवियों ने क्रान्ति के उन्मेष का प्रयत्न किया है।

सुमित्रानन्दन पन्त भारतमाता के ग्रामवासिनी ममतामय रूप का चित्रण करते हैं—

भारत माता
ग्रामवासिनी।

---

१. महाक्रान्ति का घूँघट खोलो—हरिकृष्ण प्रेमी, विशाल भारत, फरवरी, सन् १९४१, पृ० २१२।
२. प्रभाती—सोहनलाल द्विवेदी, पृ० ८१, सन् १९४६।

खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी ।

आगे उन्होंने भारतमाता की दीनता का और भी करुण चित्रण किया है। दीनता के कारण वह विषण्ण नीचा सिर किये रहती है और अपने ही घर में प्रवासिनी की तरह है—

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग-युग के तम से विषण्ण मन
वह अपने घर में प्रवासिनी ।[१]

उपर्युक्त चित्रण बड़ा ही मार्मिक और हृदयग्राही है।

इसी प्रकार छिटपुट रूप में यत्र-तत्र बहुत ही अल्प मात्रा में मातृभूमि की वन्दना के स्वर इस युग में भी मिल जाते हैं। पर इस प्रवृत्ति की धारा अत्यन्त क्षीण रही।

सन् १९४७ में देश को स्वतन्त्रता मिली। इसके साथ ही राष्ट्रीय क्रान्ति की आवश्यकता भी नहीं रही, क्योंकि राष्ट्रीय-क्रान्ति की भावना प्रधानतः विदेशी शोषण के विरुद्ध ही उत्पन्न होती है। इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि देश-भक्ति के गीत नहीं गाये गये। देशभक्ति पूर्ववत् ही रही, पर स्वतन्त्रता के साथ ही राष्ट्रीय क्रान्ति की आवश्यकता रहने से हिन्दी-काव्य में भी क्रान्ति के स्वर नहीं रहे।

---

१. आधुनिक कवि—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ८७, सं० २०१० ।

चौथा अध्याय

समाजिक और धार्मिक विचार-धाराएं

सामाजिक और धार्मिक विचार-धाराएँ

भारतेन्दु युग

वर्तमान दशा

भारतेन्दु-युग की क्रान्तिपरक राजनीतिक विचारधारा की उत्तेजना सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी आयी। बाह्य जगत के सम्पर्क और अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से उत्पन्न क्रान्ति-चेतना सामाजिक और धार्मिक सुधार को उन्मुख हुई। प्रबुद्ध भारतीय जनमानस ने इन क्षेत्रों में व्याप्त कुरीतियों को पहचाना। उनकी जड़ता से सामाजिक और धार्मिक मान्यताएँ निर्जीव हो गयी थीं। जीवन जड़ हो गया था और खोखले, अर्थहीन, आरोपित मूल्यों के सन्दर्भ में वह अधिक निष्क्रिय था। मानसिक दृष्टि से देश अधः पतन के किनारे था और प्रमाद, आलस्य, मिथ्याचार का प्रभाव दिन-ब-दिन बढ़ रहा था। ऐसी परिस्थिति में कई सामाजिक आन्दोलनों का प्रवर्तन हुआ। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, विद्यासागर, दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस, तिलक आदि ने सामाजिक और धार्मिक दिशा में क्रान्ति का संदेश दिया। वृद्ध विवाह, बाल विवाह, दहेज, छुआछूत, कर्मकाण्ड आदि की असंगतियों को दूर करना आवश्यक था। इन जड़ बन्धनों से मुक्ति पाकर ही राष्ट्र में नयी स्फूर्ति और उत्तेजना का संचार हो सकता था।

सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी विचार अंग्रेजी और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के माध्यम से विशेष रूप से आये। वे पाश्चात्य आचार-विचारों का अंधानुकरण करने लगे थे। कट्टर हिन्दू भी अपने समाज और धर्म की बुराइयाँ दूर कर परिवर्तन और पुनर्जागरण को लाने के पक्षपाती थे, किन्तु वे पश्चिमी आचार-विचार का अन्धानुकरण नहीं चाहते थे। न वे सनातन धर्म की परम्पराओं को आमूल हटाने के पक्ष में थे।

यह क्रान्तिपरक विचार-धारा सामाजिक दिशा में सुधार के रूप में प्रकट हुई। सुधार की दिशा में दो प्रकार की स्थितियाँ इस युग में उभरीं। एक पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित पढ़े-लिखे भारतीय थे जो सनातन परम्पराओं में आमूल परिवर्तन चाहते थे। उन्होंने विदेशी संस्कृति, सामाजिकता, वस्त्र-भूषा आदि का अन्धानुकरण प्रारम्भ किया। दूसरे ऐसे भारतीय सुधारक थे, जो सनातन परम्परा की रूढ़ियों को दूर कर परिवर्तन और सुधार चाहते थे। उन्होंने न विदेशी सभ्यता का अनुकरण नहीं किया और न ही ऐसे लोगों को बर्दाश्त किया, जो विदेशी बन रहे थे। ऐसे लोगों की

कटु आलोचना हुई। परम्परावादी सनातनधर्मी सुधारकों में अपने सामाजिक और धार्मिक मूल्यों को पुनर्जीवित करने का आग्रह दीखता है। इस प्रकार धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में, जिस परिवर्तन की कामना की गयी, उसकी परस्पर विरोधी दो धाराएँ दिखायी पड़ती हैं। अन्धानुकरण करनेवाले लोगों की भाव-धारा में राष्ट्रीयता का अभाव है, जब कि परम्परावादी धार्मिक सुधारकों में भारतीयता का अतिरिक्त आग्रह है।

हिन्दी कवियों ने इस परिस्थिति का अनुभव किया। देश में फैले हुए मिथ्याचार, प्रमाद और आलस्य को उन्होंने समाज और धर्म के लिए घातक महसूस किया। अपनी दुर्बलताओं और बुराइयों से वे अनभिज्ञ नहीं थे। भारतेन्दु ने हिन्दुओं की स्वार्थपरता, वैमनस्य मूढ़ता के प्रति खेद प्रकट करते हुए और अंग्रेजों का सम्पर्क प्राप्त होनेपर भी उससे लाभ न उठा सकने कारण मीठी झिड़की देते हुए कहा—

अंगरेजहूँ के राज्य पाई कै रहै कूढ़ के कूढ़
स्वारथ पर विभिन्न मान भूले हिन्दू सब हूवै मूढ़[१] ॥

उन्होंने दुःख प्रकट करते हुए कहा, "लिया भी तो अंग्रेजों से तो अवगुन'। भारतवासियों की मूर्खता पर बड़ा करारा व्यंग्य प्रतापनारायण मिश्र ने किया है =

बसी मूर्खते देवी आर्यों के जी में,
तुम्हारे लिए हैं मकां कैसे-कैसे[२]।

प्रतापनारायण मिश्र की चुटकियाँ बड़ी तीखी और सटीक थीं। उन्होंने पढ़े-लिखे लोगों के बाबू बनने की इच्छा विदेशियों की सेवा का साधन बनने की आकांक्षा करनेवालों पर तीखी चोट की।

तन मन सो उद्योग न करहिं,
बाबू बनवेके हित मरहिं।
पर देविन सेवत अनुरागे
सब फल खाय धतूरन लागे।

अंग्रेजी वस्त्रभूषा का अनुकरण करनेवाले पढ़े-लिखे क्षत्रियों पर चोट करते हुए बालमुकुन्द ने कहा—

सेल गई बरछि गई गयो तीर तलवार।
घड़ी, छड़ी चश्मा भयो छत्रिन के हथियार[३]।

सभी वर्गों ने अपना-अपना कर्म छोड़ दिया। ब्राह्मणों ने होम, क्षत्रियों ने तलवार और वैश्यों ने अपना सद्व्यवहार त्याग दिया। भारत भूमि के सभी वर्ण दास हो गये। बालमुकुन्द गुप्त ने इस विघटन के प्रति दुःख प्रकट किया है—

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग १।
२. ब्राह्मण, खंड दो, सं० ४, जून १८८४, पृ० ६।
३. श्रीराम स्तोत्र—बालमुकुन्द गुप्त, पृ० ५८१।

विप्रन छोड़यो होम तप, अरु छत्रिन तलवार।
वनिकन के पुत्रन तज्यो, अपना सद्व्यवहार ॥
अपनो कछु उद्यम नहिं, तकत पराई आस।
अब या भारतभूमि में, सबै वरन हैं दास ॥[१]

इस अन्ध परम्परा का प्रतिवाद प्रेमघन ने भी किया कि इससे हमने भारतीय आर्यों को लज्जित किया है—

प्रचलित हाय अन्ध परिपाटी पर तुम चलते जाते,
आर्य वंश को लज्जित करते कुछ भी नहीं लजाते ॥[२]

इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सामाजिक मिथ्याडम्बर तथा दुर्बलताओं की ओर जन-मानस को आकृष्ट किया और सामाजिक क्रान्ति के विचारों की लहर देश में फैला दी।

नारी : अनमेल विवाह के प्रति आक्रोश

नारी जाति की पतितावस्था भी सामाजिक बुराइयों की जड़ में थी। अतः कवियों ने नारी के अहित के विरुद्ध भी क्रान्ति का स्तर उठाया। इसलिए उन्होंने अनमेल विवाह, बाल-विवाह तथा विधवा विवाह जैसे अनाचारों पर भी चोट की। लोक धुन कजरी में अनमेल विवाह की भर्त्सना करते हुए प्रेमघन ने कहा—

नैहर में देबै बिताय वरु बिरथा वैस जवानी रामा।
हरि हरि का करबै लैई छोटा सजनवाँ रे हरी।[३]

छोटा वर और जवान दुलहिन। कितनी विडम्बना है इस गठबन्धन में। बेचारी दुलहिन इसीलिए निश्चय करती है कि मैं नैहर में ही अपनी जवानी बिता दूँगी। भला, छोटा पति किस काम का। और जब बारात दरवाजे पर आती है तो दुलहिन के प्राण दुलहा को देखकर सूख जाते हैं। रसपूर्ण किन्तु मार्मिक भाषा में प्रेमघन ने आगे कहा है—

आय बरात दुआरे लागी आली चढ़ी अटारी रामा।
हरि हरि देखि दूलहा सूखल मोरा परनवां हे हरी[४] ॥

दुलहिन इस स्थिति की तुलना कसाई के हाथ गाय बेचने से करती है। यदि इस तरह के असामान्य सम्बन्ध को रोका नहीं गया तो वह जहर खाकर मर जायगी अथवा कहीं निकल जायगी—

वरु विष खाय मरब ! सूतब हति कारी करद करेजवा रामा
हरि हरि निकरि जाब काहू के गोहनवा रे हरी[५] ॥

---

१. श्रीराम स्तोत्र, बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, पृ० ५९०।
२. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ५४५।
३. वही।
४. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ५४५।
५. वही, पृ० ५४७।

इसी तरह का असामान्य विवाह बालावृद्ध विवाह है, जिसमें वर-अस्सी वर्षों का है और कन्या बारह की—

अस्सी बरिस के भयः वृढ़ तू जैस हमार परवाजा रामा ।
हरि हरि हम बारिहै बरिस कै अबही बाला रे हरी ॥
× × ×
हरि जब लगि चढ़े जवानी हम पर तब तक तूँ मरिजाव्यह रामा ।
हरि हरि तब हमार फिर कौन होय हवाला रे हरी ॥
वूढ़े प्रेमी सुजन प्रेमघन, की सुनि सीख विचारो रामा ।
हरि हरि तजौ बुढ़ाई में तौ गड़बड़ झाला रे हरी[1] ॥

बाल विवाह

बालकृष्ण भट्ट ने भी बाल्य विवाह को सभी दोषों की खान बताया है और इसे त्यागने का आग्रह किया है—

सकल दोष की खानि वीर्य हस दारिद करन
आलस की जड़ खानि, त्यागहुँ बाल्य विवाह को[2] ।

विधवा विवाह

विधवा-विवाह के समर्थन में हिन्दी कवियों ने अपना स्वर ऊँचा किया । उन्होंने विधवाओं की वेदना का उद्घोष कर इस ओर जन-जीवन को आकृष्ट किया और विधवा विवाह की प्रेरणा दी । इस दृष्टि से सामाजिक क्रान्ति की विचारधारा हिन्दी कवियों के माध्यम से प्रकट हुई है—

हम विधवा दुखियारी सुनो कोउ टेर हमारी
× × ×
आप तो व्याह करौ दस चाहो, ताहू पै हो व्यभिचारी
करो अन्याय बाल विधवा पर, अपनी ही अरथ निहारी
वाह क्या नींद प्रचारी[3] ॥

भ्रष्टाचारियों का विरोध

सबसे अधिक विरोध भ्रष्टाचारियों का हुआ और उनके आचार-विचार पर चोट की गयी । खान-पान का निषेध न करनेवाले तथा म्लेच्छों की जूठन प्रशंसापूर्वक खाने-वालों के व्यवहार से क्षुब्ध बालमुकुन्द गुप्त ने कहा—

जूठी म्लेच्छन की हहा, खात सराहि सराहि
और कहा चाहो सुन्यो त्राहि त्राहि प्रभु त्राहि[4] ॥

१. वही, पृ० ५४८ ।
२. हिन्दी प्रदीप, सं० बालकृष्ण भट्ट, पृ० १ दिसम्बर १८८० ।
३. वही, पृ० २८, अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर, १८२९ ।
४. बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, पृ० ५८३ ।

देश में कुछ लोग ऐसे भी थे जो देशोद्धार का स्वाँग रचते थे। ऐसे लोगों पर भी गुप्तजी ने व्यंग्य किया—

खड़ा खड़ा जो मारे घार सोई करे देशोद्धार
यह देखो कलजुग का खेल तागड़ धिन्ना नागर बैल[1]।

शराबखोरी के विरोध में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक मुकरी कही है और शराब पीने के दोषों का उल्लेख किया है—

मुँह जब लागे तब नहिं छूटे
जाति मान धन सब कुछ लूटै।
पागल करि मोहि करे खराब
क्यों सखि सज्जन नहिं सराब[2]।

विलायतीपन का विरोध

गोरी मेम रखनेवाले और भारतीय संस्कृति छोड़कर विदेशी वेशभूषा अपनानेवालों, शराब पीनेवालों को प्रेमघन ने लंगूर की संज्ञा दी है। 'गोरी गोरिया' शीर्षक कविता में उन्होंने ऐसे लोगों का पर्दाफाश किया है—

जूठे निवाले खायँ पियाले मद के पियहीं
पिआए गोरी गरवा।
लोक लाज कुल कानि धाम धन सब सुख हि सार नसाय गोरी गोरवा
बनी लंगूर बँदरिया के सँग,
नाचहिं नाच रिझाय गोरी गोरवा[3]।

बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, व्यभिचार, अशिक्षा, रूढ़िप्रियता, कूपमण्डूकता, विलायतीपन आदि के खण्डन और विरोध से भारतीय कवियों ने सामाजिक क्रान्ति की विचारधारा प्रस्तुत की और जीवन को नयी स्फूर्ति और शक्ति देने की चेष्टा की।

धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन

धार्मिक रूढ़ियों का खण्डन भी इस काल में हुआ। बहुत अंशों में धार्मिक मतभेद और कट्टरता के कारण देश का पतन हुआ। कट्टरता और मतभेद बाहरी होते हैं। ये धर्म के मूल तत्त्व नहीं होते, बल्कि आचार के वाह्य आधार होते हैं। हिन्दी कवि धार्मिक क्षेत्र में भी क्रान्ति चाहते थे, क्योंकि धर्म हमारे जीवन का एक अंग है।

जाति-विधान की निन्दा

हिन्दी कवियों को धार्मिक कट्टरता पसन्द न थी। ये विविध मत-मतान्तरों का उलझाव पसन्द नहीं करते थे। अनेक मतों की तथा ऊँच-नीच के आधार पर जाति-विधान की निन्दा करते हुए भारतेन्दु ने लिखा था—

१. देशोद्धार की तान।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ८१२।
३. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० ५४३, सं० १९९६ वि०।

रचि बहुविधि के वाक्य पुरातन माहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रकट चलाए।
जाति अनेकन करि ऊँच अरु नीच बनायो।
खान-पान सम्बन्ध सबनि सों बरज छुड़ायो[१] ॥

विभिन्न मतावलम्बियों को भारतेन्दु ने मतवाले कहा, क्योंकि वे मत की बाह्यता पर खूब जमकर लड़ते थे। ऐसे साम्प्रदायिक लड़ाकों को भारतेन्दु ने भठियारे कहा—

भये सब मतवारे मतवारे
अपनो अपनो मत लै लै सब
झगरत ज्यों भठिहारे।
कोउ कहु कहत नाहि कोउ दूजौ
खण्डत निज हठ धारे[२] ॥

धार्मिक मतभेद की निन्दा

धार्मिक मतभेद की निन्दा करते हुए भारतेन्दु ने कहा—

नाहिं ईश्वरता अटकी वेद में।
तुम तो अगम अनादि अगोचर
सो कैसे मतभेद में[३]।

भारतेन्दु ने प्रचलित और परम्परित मान्यता का खण्डन उपर्युक्त पंक्तियों के माध्यम से किया है। यह निश्चित रूप से धार्मिक क्रान्ति की विचारधारा है, जो भारतेन्दु युगीन कवियों के काव्य में प्रकट हुई।

मिथ्याचार और मूर्खता का उपहास

प्रेमघन ने पुरोहितों के मिथ्याचार और मूर्खता का उपहास किया है। यजमान को मूँड़नेवाले पुरोहित की निन्दा कर उन्होंने उसे बूढ़े बैल की उपाधि भोजन के उपरान्त डकारने के सन्दर्भ में दी है—

केवल उपरोहित नहिं साँचे अरथ समान।
खान-पान अरु दान मिसि मूड़त सिर यजमान ॥
भोजन के डँकारन चलैं बूढ़े बैल समान।
पाय दच्छिना टेंट में खोंसत कचरत पान[४] ॥

राधाकृष्ण दास ने भूत-प्रेत आदि के वितण्डावाद में उलझने के कारण अपने को 'वैशाखनन्दन' कहा है। धर्म छोड़कर झूठा विश्वास करनेवालों की दशापर दुःख प्रकट करते हुए उन्होंने शंकर की तरह अवतरित होकर उपधर्मों के भ्रम को मिटाने का निवेदन करते हुए कहा है—

---

१. भारतेन्दु नाटकवली, पृ० ६०४।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० १३९।
३. वही, पृ० १३४।
४. प्रेमघन सर्वस्व, पृ० १५२।

करुणामय शंकर स्वामी सम पुनि भूतल वपु धारौ।
मेटि सकल उपधर्म भ्रमित विश्वासहिं जड़ सौं जारौ ॥[1]

भारतेन्दु युग के कवियों की दृष्टि सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति की दिशा में पुरातनवादी थी। तात्पर्य कि वे धर्म का परिष्कार कर उसकी पुनर्स्थापना चाहते थे। और इसी दिशा में उनकी धार्मिक विचारों की क्रान्ति प्रकट हुई है। वे हिन्दू पद की मर्यादा को मिटाना नहीं चाहते थे, बल्कि उसके निर्वाह की अकांक्षा उसमें थी—

हिय से नाथ न बीसरै कबहुँ राम को राज।
हिन्दू पनपैं दृढ़ रहे, निसदिन हिन्दू समाज[2] ॥

हिन्दू कुल की मर्यादा मिटानेवालों पर चोट करते हुए उन्होंने लिखा—

हिन्दू कुल मरजाद आज हम सबहि डुबोई
पेट भरन हित फिरै हाय कुकुर से दर दर[3] ॥

विदेशी अन्धानुकरण का विरोध

जैसा ऊपर कहा गया है, इस काल के कुछ धार्मिक सुधारकों ने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में विदेशियों का अन्धानुकरण किया। वे इस दिशा में आमूल परिवर्तन के आकांक्षी थे, किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भारतीय नहीं था। इसलिए सनातनवादियों ने उनका विरोध किया। सनातनवादी धार्मिक दोषों को मिलाकर नवीन मूल्यों के आधार पर धर्म की स्थापना करना चाहते थे। तीसरी ओर कुछ कट्टर सनातनधर्मी भी थे जो धर्म और समाज के मूल्यों में कोई परिवर्तन अथवा सुधार पसन्द नहीं करते थे। भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवियों की दृष्टि मध्यममार्गी थी। उनकी वैचारिक क्रान्ति सुधार की ओर झुकी हुई दीखती है। वे न तो विदेशीपन चाहते थे और न सामाजिक और धार्मिक कट्टरता। दोनों अतिवादों की निन्दा करते हुए भारतेन्दु ने लिखा—

भारत में एहि समय भइ है सब कुछ बिनहिं प्रमान।
होय दुइरंगी।
आधे पुराने पुरानहिं मानैं आधे भए क्रिस्तान
होय दुइरंगी।
क्या तो गदहा को चना चढावैं कि होइ दयानन्द दोइ जाय
होय दुइरंगी।
क्या तो पढ़ै कैथी कोतवलिए कि तो बैरिस्टर धाई
होय दुइरंगी।
एहि से भारत नास भया सब, जहाँ तहाँ यही हाल
होय दुइरंगी[4] ॥

---

१. राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पृ० ६२।
२. श्रीराम स्तोत्र—बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली।
३. श्रीराम स्तोत्र—बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली, पृ० ५८६।
४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ५००-५०१।

भारतेन्दु युगीन वैचारिक क्रान्ति धारा उग्रवादी नहीं थी। राजनीति की तरह ही सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी वे सुधार चाहते थे। और यही उनकी इस दिशा में वैचारिक क्रान्ति थी। उन्होंने न तो पुरातनवाद का समर्थन किया और न सर्वथा नवीन का। उनकी विचारधारा में समन्वयवाद दिखायी पड़ता है।

द्विवेदी युग

इस युग में भी अनेक प्रकार के सामाजिक और धार्मिक दोषों ने भारत को ग्रस्त कर रक्खा था। क्रान्तिदर्शी कवियों को यह कब सह्य हो सकता था। इसलिए उन्होंने समाज में व्याप्त सामाजिक धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध क्रान्ति के गान गाये। देश की पराधीनावस्था का एक कारण सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त मूढ़ताएँ भी हैं। अतः जब परतन्त्रता को दूर करने के प्रयत्न आरम्भ होते हैं, तब स्वभावतः सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को भी दूर करने के प्रयत्न होते हैं। मोह, आलस्य, आदि में जकड़ी जाति का उत्थान सम्भव नहीं। अतः इनको दूर करने के लिए क्रान्ति की आवश्यकता होती है। इसीलिए सामाजिक जन-जीवन की विकृतियाँ दूर करने के लिए तत्सम्बन्धी क्रान्तिपरक विचारधाराओं की अभिव्यक्ति हुई।

आर्यसमाज और राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रभाव

द्विवेदी-युगीन क्रान्ति को आर्यसमाज और राष्ट्रीय कांग्रेस से प्रेरणा मिलती रहीं थी। इनसे प्रभावित होकर हिन्दी कवियों ने भी सामाजिक क्रान्ति को स्वर दिया। ये स्वर दो रूपों में अभिव्यक्त हुए हैं। पहला, व्यंग्य रूप में सामाजिक कुरीतियों की आलोचना और दूसरा, कुरीतियों के कारण उत्पन्न करुण स्थिति का चित्रण और उन्हें दूर कर, आदर्श ग्रहण की प्रेरणा।

'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर' रामचरित उपाध्याय आदि द्विवेदी युगीन कवियों के नाम इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं।

नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने आर्यसमाजी दृष्टि से प्रभावित होकर क्रान्तिपरक विचार-धाराओं की अभिव्यक्ति की है। इन्होंने लोभ, लालच, दंभ, पाखंड, छुआछूत, व्यभिचार, अनमेल विवाह आदि सामाजिक दोषों पर तीखा व्यंग्य किया है। उनकी दृष्टि में अविद्या, फूट तथा परतंत्रता में जकड़ा भारत एक ऐसा भाट है, जिसका गठबंधन दरिद्रता रूपी दुलहिन से हुआ है—

> अंत लों स्वतन्त्रता की सूरत न देख पावे,
> बेड़ी परतंत्रता की पैरों में पड़ी रहे।
> विद्या की सहेली सीधी सभ्यता के मारे मान,
> साथ ले अविद्या को असभ्यता अड़ी रहे।
> भेद के भबूके उठें वैर की बुझे न आग,
> आपस की फूट सदा सामने खड़ी रहे।

संकट की मूलाधार दुलही दरिद्रता से
आँख भट्ट भारत भिखारी की लड़ी रहे[1]।

समाज में रिश्वतखोर, पुलिस, पटवारी, प्लीडर आदि मनमानी करते रहते थे। कवि 'शंकर' का ध्यान इस ओर भी गया। उनपर भी करारा व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा—

मौज उड़ाते रिश्वत खौआ, उमगे प्लीडर माल कमौआ।
अलें पुलिसमैन पटवारी, विचरे चरुआ चक्र सुखारी॥
सब ने गैल गही गुमराही[2]।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में सामाजिक दशाओं का चित्रण किया है। समाज के अनेकानेक दोषों पर उनका ध्यान गया है और उसके यथार्थ चित्रण के माध्यम से उन्होंने क्रान्ति की वैचारिक चेतना उत्पन्न की है। इस सन्दर्भ में वह प्राचीन भारत को याद करते हैं और तब वर्तमान भारत से पूछते हैं कि तुम्हारी वह श्री कहाँ चली गयी ? अब कमल तो क्या जल भी नहीं रह गया, केवल पंक ही पंक बच रहा है। जो भारत कभी राज राज कुवेर था, अब वह रंक का भी रंक हो गया है—

भारत कहो तो आज तुम क्या हो वही भारत अहो।
हे पुण्यभूमि। कहाँ गयी है वह तुम्हारी श्री कहो ?
अब कमल क्या, जल तक नहीं, सर-मध्य केवल पंक है,
वह राजराज कुवेर अब हा ! रंग का भी रंक है[3]।

समाज की दयनीय दशा शिक्षा की दुर्व्यवस्था से उत्पन्न हुई है। अब शिक्षा संकीर्ण हो गयी है। वह खर्चीली है। इसीलिए सब उसे ग्रहण करने में असमर्थ हैं—

हा ! आज शिक्षा-मार्ग भी संकीर्ण होकर क्लिष्ट है,
कुलपति-सहित उन गुरुकुलों का ध्यान ही अवशिष्ट है।
बिकने लगी विद्या यहाँ अब, शक्ति हो तो क्रय करो,
यदि शुल्क आदि न दे सको तो मूर्ख रहकर ही मरो[4]।

'हरिऔध' ने भी तत्कालीन भारत के सामाजिक पतन का चित्रण यत्र-तत्र किया है। समाज की दशा देखकर वे दग्ध हैं। मतलब की दुनिया का एक चित्र उन्होंने इस प्रकार चित्रित किया—

जाति के हित की सभी तानें सुनीं
देश-हित के भी लिए सब राग सुन,
लोक-हित की गिटकिरी कानों पड़ी
पर हमें सब में मिली मतलब की धुन।

---

१. शंकर सर्वस्व—नाथूराम शंकर शर्मा, पृ० २२८।
२. वही, पृ० २०६।
३. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ८५।
४. वही, पृ० ११६।

इस प्रकार द्विवेदी-युगीन कवियों ने समाज की दयनीय दशा का चित्रण कर प्रबुद्ध जन-मानस में क्रान्ति की विचार-धाराओं का उन्मेष किया।

नारी जाति के उत्थान पर बल

समाज की दयनीय दशा का एक कारण स्त्री-जाति की हीन दशा भी है। तत्कालीन समाज में नारी जाति की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। भारतेन्दु युग से ही इस ओर लोगों का ध्यान जाने लगा था। नारी-उत्थान के लिए कविगण क्रान्ति के गीत गा रहे थे। इस युग में भी दशा में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। इसीलिए द्विवेदी युगीन कवि भी नारी-जाति के उद्धार के लिए क्रान्ति के गान गाते रहे। नारी-जाति की दुर्दशा के कई-कई कारण थे। बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, परदा आदि मुख्य कारण थे। अत इन्हीं दोषों के वर्णन द्वारा हिन्दी कवियों ने नारी उत्थान के लिए अपनी क्रान्तिकारी विचार-धाराएँ भी प्रकट की हैं।

नारी-शिक्षा पर बल

पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा नारी जाति की करुण दशा से इतने क्षुब्ध हैं कि वे नहीं चाहते कि अब भारत में कन्याओं का जन्म हो। कन्या के जन्म से माता-पिता भी विविध दुःख पाते हैं। इसलिए वे विधाता से प्रार्थना करते हैं कि अब भारत में कन्याओं का जन्म ही न हो—

> कन्या हिते सहते विविध दुःख पितु माता।
> दे कन्या जन्म न भारत में तू धाता[1]।

श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र ने भी 'भारत विनय' में भारत के मुँह से कहवाया है कि जब तक मेरी दुहिताएँ पुरुषों की तरह शिक्षा नहीं पायेंगी, मेरी उन्नति असम्भव है—

> जब तक विद्या पुरुषों सरिस पावेंगी दुहिता न मम।
> तब तक मेरी उन्नति अलभ है अकास के कुसुम सम[2]॥

पर्दा—प्रथा का विरोध

आगे वे परदा-प्रथा की निन्दा करते हुए कहते हैं स्त्री-जाति की यह दशा इसी प्रथा के कारण है। यदि परदा उठ जाता तो आज स्त्री-जातिकी यह दशा एक दिन भी नहीं रहती—

> उठ जाती परदे की दुःखद निंद्य चाल भी आज दिन।
> तो प्रमदा गन की दुर्दसा सेष न रहती एक छिन[3]॥

नारी जाति की इस पतितावस्था का एक कारण समाज में प्रचलित विवाह-परम्परा थी। बाल-विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह आदि के कारण स्त्रियों की और भी

---

१. पद्य पुष्पांजलि—पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा, पृ० १०५।

२. भारत विनय—श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र, पृ० ५९।

३. भारत विनय—श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र, पृ० ५९।

दयनीय दशा थी। इसीलिए इन कवियों का ध्यान इस दुःखद स्थिति की ओर भी गया और तत् सम्बन्धी अपने क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा उन्होंने जन-जीवन को सचेत करने का प्रयत्न किया।

प्रचलित विवाह प्रथाओं का विरोध

पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा ने अधःपतन के कारणों को बताते हुए कहा कि बाल-विवाह के कारण ही रोगों का राज्य रहता है। इसने सारे आर्य गर्व को तोड़कर गुणों को खा डाला है—

कैसी निःसत्वकारी प्रचलित हममें, बाल-व्याह प्रथा है।
हा ! हा ! सर्वस्व हारी प्रतिफल, जिसको देख होती व्यथा है
क्षीणायु प्राण रंक व्यथित कर हमें रोग से फाँस सर्व
खाया सारे गुणों को गिन-गिन इसने तोड़ के आर्य गर्व[1]।

बाल विवाह और ठहरौती से उत्पन्न दोषों को बताते हुए श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र ने कहा कि बाल-विवाह के कारण ही स्त्रियाँ वैधव्य का दुःख सहती हैं। पर किसी को इसकी चिन्ता नहीं—

यदपि होय दुर्दशा तरुनि विधवा की भारी
नहिं विवाह के काल जाय वह कभी विचारी॥
बाल वैस में ही विवाह तनया का करते।
विधवा होने का न जरा चित में डर धरते[2]॥

'भारत भारती' में मैथिलीशरण गुप्त ने भी बेजोड़ विवाह पर अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया है। बाल्य-वृद्ध विवाह के कारण ही प्रति वर्ष विधवाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। उनके रुदन से इतना दाह उत्पन्न होता है कि आकाश रोता है, पृथ्वी फट पड़ती है। ऐसा दग्धकारी दाह सहा नहीं जाता। फिर भी हम बाल और वृद्ध विवाह को नहीं छोड़ते—

प्रति वर्ष विधवावृन्द की संख्या निरन्तर बढ़ रही,
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिलकर मही।
हा ! देख सकता कौन ऐसे दग्ध कारी दाह को ?
फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं बाल्य-वृद्ध विवाह को[3]।

विधवा विवाह पर बल

तत्कालीन समाज में विधवाओं की दशा अत्यन्त दयनीय थी। इसलिए उनका पुनर्विवाह हो यह प्रबुद्ध व्यक्ति चाहते थे। यह विचार तत्कालीन समाज के सन्दर्भ में अत्यन्त क्रान्तिकारी था। हिन्दी-कवियों ने भी इस सम्बन्ध में अपने क्रान्तिकारी विचार

---

१. पद्य पुष्पांजलि—पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा, पृ० १६।
२. भारत विनय—श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र, पृ० ६३।
३. भारत भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १४०।

प्रस्तुत किये। मैथिलीशरण गुप्त ने हिन्दू-विधवा को पवित्रता की करुणा मूर्ति की संज्ञा दी। ऐसी करुण मूर्ति का शील यदि खल छल-बल से भंग कर देते हैं, तो इसमें मरने की क्या बात है ? फिर इसका दायित्व तो उन्हीं लोगों पर है जो खुद एक के बाद एक, अनेक व्याह कर डालते हैं। पर विधवाएँ क्या आह भी नहीं भर सकतीं—

हिन्दू विधवा की शुचि मूर्ति,
पवित्रता की सकरुण मूर्ति।
कर दें खल छल-बल से भंग,
तो मरने का कौन प्रसंग ?
किस पर है इसका दायित्व ?
यही तुम्हारा है न्यायित्व
कि तुम करो व्याहों पर व्याह,
पर विधवाएँ भरें न आह।[१]

वृद्ध-विवाह पर रोक की माँग

बलदेवप्रसादजी खेर ने कहा कि यदि वृद्ध-विवाह नहीं रोका गया तो ऐसे पाप को कभी भी ईश्वर तक क्षमा नहीं करेगा। उस देश के वासी कभी भी सुख की नींद नहीं सो सकेंगे—

न रोकी जायगी धारा, अगर बूढ़े विवाहों की।
न ईश्वर भी क्षमा देगा, उन्हें ऐसे गुनाहों की।
कभी उस देश के वासी, न सुख की नींद सोवेंगे।
खुली हैं खिड़कियाँ जिसमें, भयंकर पाप राहों की[२]।

इस प्रकार द्विवेदी-युगीन कवियों ने नारी-जाति के उत्थान के लिए बाल-विवाह, वृद्ध विवाह का विरोध किया, साथ ही विधवा-विवाह का समर्थन भी किया। अपनी ऐसी क्रान्तिपरक विचार-धाराओं के माध्यम से हिन्दी-कवियों ने समाज के दोषों को दूर करने में एक हद तक अत्यन्त क्रान्तिकारी सहयोग दिया।

जाति-पाँति तथा छुआछूत

तत्कालीन समाज जाति-पाँति और छुआछूत से बुरी तरह ग्रस्त था। इससे समाज का एक अंग ही विकृत हुआ था। सामाजिक उन्नयन के लिए उनका उद्धार भी आवश्यक था और इसके लिए क्रान्ति की आवश्यकता थी। प्रबुद्ध हिन्दी-कवियों ने भी परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया और तब क्रान्ति-परक विचारों का प्रतिपादन अपने काव्य में किया।

मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत-भारती' तथा 'हिन्दू' में अछूतों की दयनीय दशा और

---

१. हिन्दू—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ११७।
२. जवानी की आह—बलदेवप्रसादजी खरे, चाँद, अप्रैल १९२७, पृ० ६०५।

फिर उनके उद्धार की कामना व्यक्त की है। 'जाति बहिष्कार' की अपेक्षा भी उन्हें है। उनका कहना है कि सभी जातियाँ एक ही परमपिता की सन्तान हैं। अतः सबको एक समझना चाहिये। सभी से श्रेष्ठ मनुष्यत्व है। अतः गुण और कर्मों के आधार पर ही जाति माननी चाहिये, जन्म से नहीं।

विजातीय भी विज्ञ वदान्य
समझो सजातीय सम मान्य।
हिन्दू मुसलमान क्रिस्तान
परम पिता की सब सन्तान।
सभी बन्धु हैं लघु या ज्येष्ठ,
मत से मनुष्यत्व है श्रेष्ठ।
लिखी नहीं माथे पर जाति
गुण-कर्मों से उसकी ज्ञाति[1]।

आगे वे हिन्दुओं को उद्बोधन करते हैं कि संकीर्णता छोड़कर उन्हें उदार होना चाहिये। अन्यथा वे स्वयं ही जर्जर-जीर्ण रहेंगे। अछूत समाज के सपूत हैं। सबको पवित्र करते हैं। तब वे स्वयं ही क्यों अछूत हैं?

रहो न हे हिन्दू, संकीर्ण,
न हो स्वयं ही जर्जर-जीर्ण।
बढ़ो, बढ़ाओ अपनी बाँह,
करो अछूतजनों पर छाँह।
हैं समाज के वही सपूत
रखते हैं जो सबको पूत।
क्यों अछूत जन हुए अछूत?
उनको लगी हमारी छूत[2]।

इस प्रकार वे भारतीय जन-मानस को जाति-पाँति विरोध के लिए क्रान्ति-सम्बन्धी प्रेरक विचार-धाराओं से अभिभूत करते रहे। श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र ने भी इस सम्बन्ध में अपने क्रान्तिकारी विचार प्रकट किये हैं। भारतमाता कहती हैं कि क्या डोम, चमार, आदि मेरे पुत्र नहीं? मैंने क्या सिर्फ ब्राह्मणों को ही बसेरा दिया है? मेरे ही अन्न-जल से क्या चमार आदि अछूत जातियाँ नहीं पलतीं? तब यह दुराव कैसा?

क्या है चमार या डोम नहीं सुत मेरा?
क्या ब्राह्मन ही को मैंने दिया बसेरा?

---

१. हिन्दू—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १९३-१९४।
२. वही, पृ० १९५–१९६।

क्या अन्न-वायु-जल से चमार की काया।
नहिं पाली मैंने यथा देह द्विजराया[१] ?

गिरिधर शर्मा ने शूद्रों को गंगा के सदृश पवित्र कहा। और उन्हें आहूत किया कि तुम किसी से पीछे क्यों पड़े हो, अपना कर्त्तव्य पालन करो—

उत्पत्ति शूद्रो! प्रभु के पदों से
पवित्र गंगा-सम है तुम्हारी,
कर्त्तव्य पालो अपना, खड़े हो,
पीछे किसी से तुम क्यों पड़े हो[२] ?

इस प्रकार द्विवेदी-युगीन कवियों ने जाति-पाँति और छुआछूत के सम्बन्ध में भी अपनी क्रान्ति-परक विचार-धाराएँ व्यक्त कीं। समाज को उद्वेलित किया और जातीय-उत्थान को प्रेरणा दी।

धार्मिक रूढ़ियों का विरोध

उस समय समाज में अनेक धार्मिक रूढ़ियाँ भी एकत्र हो गयी थीं। प्रबुद्ध व्यक्ति देख रहे थे कि इनके कारण समाज आज कितनी हानियाँ उठा रहा है। धर्म के नाम पर पाखण्ड, कर्मकाण्ड, आदि का बोलबाला था। अतः इनके विरोध में भी कवियों ने क्रान्तिकारी विचार-धाराएँ अभिव्यक्त कीं। धार्मिक अन्धानुकरण के विरोध के लिए उन्होंने व्यंग्य का सहारा भी लिया। कवि शंकर ने देवों का आलस्य और पृथ्वी के जनदेवता की दयनीय स्थिति की विषमता को देखकर कहा—

महीनों पड़े देव सोते रहें !
महीदेव डूबे डुबोते रहें।

मैथिलशरण गुप्त ने भी धार्मिक विषमताओं की भीषणताओं का अनुभव किया और उनके दूर होने की कामना की। 'मन्दिर और महन्त' में इनमें व्याप्त दोषों की चर्चा वे करते हैं। वे देखते हैं कि जो मन्दिर कभी पुण्य का भण्डार था, आज वही पाप की राशि बन गया है। वहाँ के देवता आज महन्तगण ही हो रहे हैं और देवियाँ दासी हैं। ऐसी जगह जाकर भक्तजन तन, मन तथा धन अर्पण किया करते हैं—

हा ! पुण्य के भाण्डार में हैं भर रहीं अघ राशियाँ
है देव आप महन्त जी ही, देवियाँ हैं दासियाँ।
तन, मन तथा धन भक्त जन अर्पण किया करते जहाँ—
वे भण्ड साधु सु-कर्म का तर्पण किया करते वहाँ[३]।

गुप्तजी ने धार्मिक विकृतियों का चित्रण और भी किया है—

अब मन्दिरों में रामजनियों के बिना चलता नहीं
अश्लील गीतों के बिना वह भक्ति फल फलता नहीं।

---

१. भारत विनय—श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र, पृ० १५।
२. उद्बोधन—गिरिधर शर्मा, सरस्वती, मई १९०६ ई०, पृ० ४२२।
३. भारत भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १२८।

ब्राह्मण, जो इस युग में धर्म के ठेकेदार बने हुए थे, वे भी हीन-दीन हो गये हैं। वे आज जड़ता पर मुग्ध हैं। अतः कवि का कहना है कि जो एक समय के पीर थे, आज वही भिश्ती, बावर्ची, खर हो गये हैं—

उन अग्रजन्मा ब्राह्मणों की हीनता तो देख लो
भू-देव थे जो आज उनकी दीनता तो देख लो
थे ब्रह्म-मूर्ति यथार्थ जो अब मुग्ध जड़ता पर हुए,
जो पीर थे देखो, वही भिश्ती, बावर्ची खर हुए[1]।

इस तरह अन्य कवियों ने भी धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध जेहाद किया। मई, १९०८ ई० की सरस्वती में 'पंच पुकार' नामक व्यंग कविताओं में कवि ने धर्म-जाल पर चुभता हुआ व्यंग्य किया—

वैतरणी का ठेका लूँगा देकर दाढ़ी मूँछ
घर घर वाटर वाइसिकिल पर बिना गाय की पूँछ
मरों को पार उतारूँगा। किसी से कभी न हारूँगा

धर्मों के अपार्थक्य के सम्बन्ध में श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र ने भारत-माता के माध्यम से कहा कि मेरे लिए सभी गुरु एक समान हैं। न कोई तिल भर घट कर है, न बढ़कर है—

मैंने सब गुरुवों को समान ही माना।
तिल भर न किसी को घट बढ़ कभी बखाना[2] ॥

इस प्रकार द्विवेदी-युगीन कवि समाज के साथ ही साथ धार्मिक रूढ़ियों पर भी आघात करते रहे। पर धर्म भी समाज का एक अंग है। धार्मिक प्रथाओं के कारण समाज में भी अनेक प्रकार के दोष आ जाते हैं। अतः तत्कालीन सामाजिक दोषों के अन्तर्गत ही धर्म में व्याप्त रूढ़ियों का विरोध भी समाहित हो जाता है। जैसे जाति-पाँति, छुआछूत आदि कुरीतियों की व्याप्ति धार्मिक रूढ़ियों के कारण ही रहती है। इस प्रकार द्विवेदी युगीन कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों, पाखण्डताओं और विकृतियों के विरोध में क्रान्ति-परक विचारों की अभिव्यक्ति की ओर जन-मानस को उद्बुद्ध किया।

छायावाद युग

छायावाद युग के कवियों ने सामाजिक और धार्मिक विकृतियों के विरोध में क्रान्तिपरक विचारों की अभिव्यक्ति की। जड़मूल्यों को त्याग कर नवीन युगानुकूल सामाजिक मूल्यों की स्थापना पर जोर दिया। विदित ही है कि प्रचलित परम्परा को मिटाकर नवीन को अपनाना क्रान्ति है। इस युग में वैज्ञानिक यथार्थवाद का आलोक फैला और पुरानी मान्यताओं का खण्डन हुआ। पर उस समय राष्ट्रीय भावना अत्यन्त

---

१. वही।

२. भारत विनय—श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहार मिश्र, पृ० १६।

तीव्र थी। अतः समूल परिवर्तन पर बहुत अधिक बल नहीं दिया गया। जड़ता और रूढ़ियों के त्याग पर बल रहा।

विदेशी प्रभाव का विरोध

पूर्व-युग की भाँति इस युग में भी अंग्रेजियत के भक्त, अंग्रेजों के मूल गुणों को नहीं पहचान कर, नकलची बन बैठे। ऐसे व्यक्तियों से समाज सस्ते स्तर की ओर उन्मुख होता है। उसके सुदृढ़ संस्कार हिलने लगते हैं और वह छिन्न होने लगता है। अतः श्री रामचरित उपाध्याय व्यंग्य द्वारा उन्हें चेतावनी देते हैं—

हैट पैंट के होकर भक्त
पगड़ी धोती कर दें त्यक्त
चन्दन न दें भले बस सोप।
तब भारत का हो दुःख लोप[1]।

समाज बाह्य प्रदर्शन की ओर अग्रसर था। इसलिए वह सादगी को त्यागकर फैशन की ओर आकृष्ट था। इससे समाज अन्दर से खोखला हो रहा था। सामाजिक उन्नयन के लिए इसमें भी परिवर्तन आवश्यक था। अतः 'फैशन' के विरुद्ध सादगी का गान रामचरित उपाध्याय छेड़ते हैं—

पर सादगी को छोड़ हम जब फैशनेबुल हो गये
धन-धान्य हम से खो गये, अविवेक-निशि हम सो गये[2]।

विदेशी शिक्षा का विरोध भी कवियों ने किया—

लेते रहो विदेशी शिक्षा।
करो नौकरी, माँगों भिक्षा[3]।

नाथूराम शंकर शर्मा ने भी अपनी संस्कृति का त्याग करनेवालों पर करारा व्यंग्य किया है—

देश-देश-भाषा तजी, कुल की चाल विसार,
मौजी मिस्टर हो गये, धज विलायती धार[4]।

इस प्रकार तत्कालीन कवियों ने एक ओर समाज के नकलचियों पर करारा व्यंग्य किया। विदेशी वेश-भूषा का विरोध कर इस क्षेत्र में परिवर्तन चाहा। दूसरी ओर वैयक्तिक स्वच्छन्दतावाद से अभिप्रेरित छायावादी कवियों ने प्रचलित रूढ़ियों का भी खण्डन किया और नवीन को अपनाने का आग्रह किया।

सुमित्रानन्दन पन्त ने जन-जीवन का उद्बोधन करते हुए जीर्ण विश्वासों संस्कारों, रूढ़ियों, रीतियों को दूर करने को कहा। उनकी आकांक्षा है कि जाति, वर्ण, श्रेणि, वर्ग से मुक्त एक विश्व सभ्यता का शिलान्यास हो—

---

१. बेड़ा पार—रामचरित उपाध्याय, सरस्वती, दिसम्बर १९२९, पृ० ६४८।
२. फैशन की फाँसी— ,, ,, फरवरी १९२२, पृ० १५०।
३. बेड़ा पार— ,, ,, दिसम्बर १९२९, पृ० ६४९।
४. मिस्टर—नाथूराम शंकर शर्मा, माधुरी, नवम्बर १९२८, पृ० ४५३।

खोलो जीर्ण विश्वासों, संस्कारों के शीर्ण वसन,
रूढ़ियों, रीतियों, आचारों के अवगुंठन,
छिन्न करो पुराचीन संस्कृतियों के जड़ बंधन—
जाति वर्ण, श्रेणि वर्ग से विमुक्त जन नूतन
विश्व सभ्यता का शिलान्यास करें भव शोभन
देश राष्ट्र मुक्त धरणि पुण्य तीर्थ हो पावन[१]।

इसी प्रकार 'ग्राम देवता' में भी वे प्राचीन रीतियों-नीतियों को मृत बताते हैं—

उच्छिष्ट युगों का आज सनातनवत् प्रचलित
बन गयीं चिरंतन रीति नीतियाँ, स्थितियाँ मृत।
गत संस्कृतियाँ थीं विकसित वर्ग व्यक्ति आश्रित,
तब वर्ग व्यक्ति गुण, जनसमूह गुण अब विकसित[२]।

इस प्रकार इस युग में प्राचीन रूढ़ियों का खण्डन कर नवीन मूल्यों को अपनाने के लिए क्रान्तिकारी विचारों की अभिव्यक्ति हिन्दी कवियों ने की।

नारी स्वातन्त्र्य पर बल

सामाजिक संस्कारों के परिवर्तन के सन्दर्भ में नारी-जाति पर इस युग में भी कवियों ने विशेष ध्यान दिया। समाज का आधा अंग यदि विकृत रहेगा, बंधनग्रस्त रहेगा तो समाज की उन्नति कदापि सम्भव नहीं। इसलिए कवियों ने उसकी मुक्ति की कामना की।

सुमित्रानन्दन पन्त ने उसे पूर्ण स्वाधीन करने की उद्घोषणा की—

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।
द्वन्द्व क्षुधित मानव समाज पशु जग से भी है गर्हित,
नर-नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित[३]।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भी विधवा को सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया। भारत की विधवा पूजा-सी पवित्र, दीप-शिखा-सी शान्त, करुण, दीन है—

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह फूटे तरु की छुटी लता-सी दीन-
दलित भारत की ही विधवा है[४]।

---

१. उद्बोधन—सुमित्रानन्दन पन्त, ग्राम्या पृ० ९९।
२. ग्राम देवता—वही, पृ० ५९।
३. ग्राम्या—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० ८४।
४. विधवा—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' परिमल, पृ० १२६।

वैधव्य उत्पीड़न का चित्रण करते हुए बल्लभद्रप्रसाद गुप्त 'रसिक' ने एक विधवा की दशा के माध्यम से सहृदयों का ध्यान इस ओर खींचा और इस क्रान्तिपरक विचार-धारा को प्रतिपादित किया कि यदि पत्नी की मृत्यु के बाद पति विवाह के अधिकारी हैं तो पति के स्वर्गारोहण पर नारी क्यों दुःख सहती रहे ?—

> मुझे देख सधवाओं की है जाने क्यों फटती छाती ?
> जाती हूँ जिस ओर उधर से ही हूँ दुत्कारी जाती।
> हाय कुटुम्बी भी मुझको अपशकुन चिह्न बतलाते हैं।
> मदन धनुष के दाहक शर वे मुझ पर नित बरसाते हैं।
> × × ×
> पत्नी के मरने पर यदि, पति हैं विवाह के अधिकारी।
> तो पति स्वर्गारोहण पर क्यों रहे दुःख सहती नारी ?
> वे भी पुनः ब्याह करने का स्वत्व नहीं क्यों पाती हैं ?
> क्यों जीवन भर वे जग-सुख से वंचित रखी जाती हैं[1]।

नारी के सखी रूप पर बल

द्विवेदी-युग तक नारी के आदर्श रूप का वर्णन ही अधिक होता आया था। लोग उसे देवी का गौरव प्रदान करने को उत्सुक थे। उनमें इतना साहस नहीं हो सका था कि उसे 'सखी' का पद भी दे सकें। पर छायावादी कवि स्वच्छन्दता के पक्ष-पाती थे। अतः उनमें यह साहस भी था कि वे अपने वैयक्तिक आन्तरिक विचारों की अभिव्यक्ति निरावरण रूप में कर सकें। इसलिए छायावादी कवियों ने नारी को 'सखी' रूप में भी अपनाना चाहा। तत्कालीन वातावरण में यह अभिव्यक्ति तीखी क्रान्तिकारी मानी जायगी। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने स्पष्ट कहा कि नारी को मुक्त करो, जो जननि, सखी और प्रिया है—

> मुक्त करो नारी को मानव
> चिर वंदिनि नारी को,
> युग युग की बर्बर कारा से,
> जननि, सखी, प्यारी को[2]।

इस प्रकार छायावादी कवियों ने नारी-जाति की मुक्ति के माध्यम से सामाजिक उत्थान के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाया।

जाति-पाँति के मानवतावादी परिप्रेक्ष्य पर बल

सामाजिक क्रान्ति के सन्दर्भ में इस युग में जाति-पाँति और अछूतोद्धार सम्बन्धी विचार-धाराएँ भी अभिव्यक्त हुईं। आर्यसमाज की तथा गांधीजी की प्रेरणा के परिणाम-स्वरूप इस युग में अछूतों में अभूतपूर्व जागरण हुआ। वे अभिजात वर्ग से अलग

---

१. विधवा—[illegible]—बल्लभद्रप्रसाद गुप्त, 'रसिक', चाँद, अगस्त १९२६, पृ० ३४४-४५।
२. नारी—सुमित्रानन्दन पन्त, ग्राम्या, पृ० ४६।

अपने अस्तित्व की कामना करने लगे। पर ऐसी भावना राष्ट्रीय एकता के लिए घातक थी, जो उस युग के लिए आवश्यक थी। अतः हिन्दू जाति की एकता को सुदृढ़ बनाने के विचार से कवियों ने अछूतोद्धार चाहा—

समझ अछूतों को अछूतों के समान रहे,
आपके ललाट पै कलंक ही का टीका है[1]।

'हरिऔध' जी ने भी हिन्दुओं के माथे पर इस छुआछूत को कलंक का टीका बताया—

छाये रहे उर मैं अवनि के अछूते भाव,
बनत अपूत ना अछूत जन छूए ते[2]।

शोभाराम धेनु 'सेवक' भी हिन्दुओं को समय रहते चेत जाने को कहते हुए अछूतों को अपना बनाने को कहते हैं—

समय है हिन्दुओं अब भी
तुम्हारे चेत जाने का।
हृदय विस्तीर्ण कर—
संकीर्णता को अब नशाने का।
अछूतों को उठाकर प्रेम—
से अपना बनाने का।
अछूतों को उठाने के लिए
तैयार हो जाओ[3]।

अछूतों को अपनाने पर बल

सन् १९२३ में ही माधुरी के सम्पादक ने भी अछूतों को अपनाने को कहा। उन्होंने अछूतों को समाज का अंग बताते हुए, उसे अपना बना लेने को कहा। साथ ही यह भी कहा यदि उन्हें अपना नहीं बनाया गया, तो जाति खण्ड-खण्ड हो मृत्यु-ग्रस्त हो जायगी—

अपना ही अंग हैं ये अंत्यज असंख्य, इन्हें
गले न लगाया तो अवश्य पछताओगे।
ममता के मंत्र से विषमता का विष जो
उतारा नहीं, जाति को तो जीवित न पाओगे।
पक्षाघात पीड़ित समाज जो रहेगा पंगु,
उन्नति की दौड़ में कहाँ से जीत जाओगे।

---

१. अछूत—अनूप शर्मा, चाँद, मई, १९२७ ई०, पृ० ५७।
२. अछूत—'हरिऔध' " " " पृ० ६९।
३. अछूतआवेदन—शोभाराम धेनु सेवक, चाँद, मई १९२७, पृ० १३।

साधना स्वराज की सफल कभी होगी नहीं,
अगर अछूतों को न आप अपनाओगे[१] ।

पन्त ने जाति-पाँति की कड़ियाँ टूटने की कामना व्यक्त करते हुए कहा—

जाति-पाँत की कड़ियाँ टूटें,
मोह द्रोह मद मत्सर छूटें,
जीवन के नव निर्झर फूटें,
वैभव बने, पराभव
युग प्रभात हो अभिनव[२] ।

इस प्रकार अछूतों को अपनाने की क्रान्तिकारी प्रेरणा देते हुए छायावादी कवियों ने समाज और राष्ट्र में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं का विरोध किया ।

धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तन की अनुभूति

धार्मिक रूढ़ियों के विरोध में भी, कवियों ने क्रान्तिपरक विचारों को अभिव्यक्त किया । समाज की तरह धर्म भी रूढ़िग्रस्त हो गया था । अतः उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन की अपेक्षा थी ।

सुमित्रानन्दन पन्त ने ईश्वर को 'आवाहन' किया, क्योंकि संसार फिर धर्म ग्लानि से पीड़ित हो रहा था—

आओ हे, पावन हो भूतल ।
फिर धर्म ग्लानि से पीड़ित जग,
फिर नग्न वासना उच्छृंखल,
जन परित्राण करने उतरो
हे राम, परम निर्बल के बल[३] ।

मानव धर्म पर बल

धार्मिक मत-वैभिन्य को भूलकर मानव-धर्म अपनाने की सलाह भी पन्तजी ने दी । मनुष्यत्व या मानव-धर्म सबसे महान् है । अतः धर्म के नाम पर रक्त बहाना अत्यन्त निन्द्य है । इससे अच्छा तो यही है कि हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई कहलाना छोड़कर सिर्फ मानव बनकर रहें—

छोड़ नहीं सकते रे यदि जन
जाति वर्ग औ धर्म के लिए रक्त बहाना,
बर्बरता को संस्कृति का बाना पहनाना—
तो अच्छा हो छोड़ दें अगर

---

१. अपनाओगे—माधुरी-सम्पादक-माधुरी, अप्रैल, १९२३, पृ० ४०८ ।
२. गीतोन्मेष—सुमित्रानन्दन पन्त, स्वर्णधूलि, पृ० ४२ ।
३. आवाहन—सुमित्रानन्दन पन्त, युगपथ, पृ० १२८ ।

हम हिन्दू-मुस्लिम और ईसाई कहलाना।
मानव होकर रहें धरा पर,
जाति वर्ण धर्मों से ऊपर,
व्यापक मनुष्यत्व में बँधकर[1]।

इस प्रकार इस युग में धार्मिक रूढ़ियों और मान्यताओं को दूर करने के लिए विचार प्रकट किये गये। पर धार्मिक सुधार की चर्चा, इस काल में उतनी नहीं मिलती। कारण, इस युग में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य तथा हिन्दुओं की उपजातियों में ऐक्य आदि पर राष्ट्रीय-हित के लिए बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा था। अतः यदि धार्मिक चर्चा बहुत होती तो उससे मानसिक पार्थक्य की आशंका रहती। एकता की स्थापना के लिए वांछित था कि धार्मिकता पर बल न दिया जाय। युग की इस आवश्यकता से कवि परिचित थे। अतः धार्मिक सुधारों की विशेष चर्चा उन्होंने नहीं की। एकाध अपवाद अवश्य हैं। जैसे श्यामनारायण पाण्डेय ने 'हल्दी घाटी' में साम्प्रदायिकता पर जोर दिया। पर ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं।

प्रगतिवाद-युग

यों तो उपदेश द्वारा क्रान्ति उत्पन्न करने की भावना छायावाद युग से ही समाप्त हो चली थी, पर इस युग तक यह प्रवृत्ति विराम पर आ गयी। सामाजिक उन्नयन के लिए उपदेशात्मक प्रवृत्ति नहीं रह गयी थी। इस प्रवृत्ति के मुख्यतः दो कारण थे। एक तो इस समय विदेशी परतन्त्रता से मुक्ति पाना ही प्रधान लक्ष्य था। दूसरे, शोषण से मानव की मुक्ति। इसके लिए साम्यवाद के गुण गाये जाते थे, क्योंकि मानव-साम्य के आधार पर ही यह वाद स्थापित हुआ था। वैसे, इसका दृष्टिकोण आर्थिक था। इसकी चर्चा आर्थिक विचार-धाराओं के अन्तर्गत हो चुकी है।

पर सामाजिक परिवर्तन के हेतु उपदेशात्मक शैली में भले ही नहीं के बराबर कहा गया हो, लेकिन सामाजिक क्षेत्र में नये मूल्य स्थापित हुए। जातीयता का विरोध इस युग में भी हुआ। पर इसपर पहले ही इतना कहा जा चुका था कि और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं थी। वैसे मानव-साम्य, विश्वबन्धुत्व, युद्धजनित विभीषिका आदि के रूप में जातीयता का विरोध व्यापक पैमाने पर हुआ। पर यह कोई नवीन बात नहीं थी।

जातीय ऐक्य पर बल

इस युग की सामाजिकता की चर्चा में एक विशेषता यह रही कि जातीय ऐक्य आदि की स्थापना पर भी बल, आर्थिक आधार पर दिया गया। शिवमंगल सिंह 'सुमन' के अनुसार जातिधर्म का भेद, भूख की डोर से बँधा हुआ है—

जाति धर्म के भेद यहाँ सब
बँधे भूख की डोर

---

१. मनुष्यत्व—सुमित्रानन्दन पन्त, स्वर्णधूलि, पृ० ३१।

हिन्दू-मुस्लिम खींच रहे नर
अपनी-अपनी ओरें[1] ।

अज्ञेय भी उन लोगों को ललकारते हैं और घृणा करते हैं जो भाई को अछूत समझकर, बच बचाकर भागते हैं। बहनों को रोती छोड़कर, स्वयं आगे बढ़ते जाते हैं—

तुम जो भाई को अछूत कह वस्त्र बचाकर भागे,
तुम जो बहिनें छोड़ बिलखती बढ़े जा रहे आगे।
रुककर उत्तर दो, मेरा है अप्रतिहित आह्वान—
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान[2] ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त पंक्तियों में कवियों ने छुआछूत और नारी-जाति के प्रति अपने विद्रोही विचारों को व्यक्त किया है। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सामाजिक वैमनस्यों को मिटाकर एकता के लिए क्रान्तिकारी विचार प्रकट किये हैं।

मानव-मंगल की भावना की प्रधानता

इस समय मानव-मंगल की भावना विशेष रूप से काव्य में अभिव्यक्त हुई। इसका तात्पर्य यह नहीं कि अन्य युगों में मानव-मंगल की भावना नहीं रही हो। वस्तुतः प्रत्येक क्रान्ति के मूल में मानव-मंगल की ही भावना रहती है। पर इस युग में मानव-मंगल की भावना को अनेक अंगों में जैसे समाज उद्धार, अछूत-उद्धार, नारी आदि में न बाँटकर, स्पष्ट रूप से मानवता की ही बातें की गयीं और इसी के माध्यम से क्रान्ति-परक विचार-धाराओं का प्रस्तुतीकरण हुआ।

उदयशंकर भट्ट की आकांक्षा है कि जीवन में विवेक, सुख आदि हों तथा मानव एक-दूसरे के स्वार्थ का प्रतिवाद नहीं करें। चतुर्दिक् साम्य, विश्वबन्धुत्व, हर्ष और उत्कर्ष का राज्य हो। कहीं विषाद न हो—

जीवन में विवेक हो, सुख हो,
परहित का प्रतिवाद न हो।
साम्यवाद हो, विश्वबन्धुता,
हर्षोत्कर्ष,—विषाद न हों[3] ।

इसी प्रकार और-और कवियों ने भी नयी चेतना से मानव को अनुप्राणित करना चाहा। पन्त का नाम ऐसे कवियों में अग्रणी है। मानव-मंगल की भावना से उत्प्रेरित पन्त के ये विचार 'ग्राम्या' में व्यापक पैमाने पर अभिव्यक्त हुए हैं।

नारी शोषण की समाप्ति की कामना

नारी जाति की अवस्था से उत्पीड़ित होकर क्रान्ति की कामना पहले से ही होती

---

१. प्रलय-सृजन—शिवमंगल सिंह 'सुमन', पृ० ८२ ।
२. घृणा का गान—अज्ञेय, इत्यलम्, पृ० ५२ ।
३. युगदीप—उदयशंकर भट्ट, पृ० ७१ ।

आ रही थी। इस युग में भी नारी की दयनीय दशा का चित्रण और उसकी मुक्ति की कामना होती रही। पन्त ने छायावाद युग में ही तत्सम्बन्धी अपने विचारों को व्यापक पैमाने पर व्यक्त किया था। इस युग में भी वे नारी-जाति के उत्थान-हेतु क्रान्तिकारी विचारों को अभिव्यक्त करते रहे। उनकी इच्छा है कि नारी जागकर, ज्वालामुखी बनकर जाये और शोषण के साधनों को ध्वंस कर दे—

क्रान्ति का तूफान जब विश्व को हिलायेगा
ये बाजार की असंस्कृता निर्लज्जा नारियाँ
जो कि न 'योनि मात्र रहकर' बनेंगी प्रदीप्त
उगलेंगी ज्वालामुखी।—किरण वेला, पृ० ६०।

इसी प्रकार अन्य कवि भी नारी-शोषण को समाप्त कर साम्य-स्थापन की अकांक्षा प्रकट करते रहे और नये सामाजिक मूल्यों को गतिशीलता प्रदान की।

धर्म का विरोध

प्रगतिवाद युग में पूँजी का विरोध तो हुआ ही; उसके विरुद्ध क्रान्ति-गान तो गाये ही गये, साथ ही परमेश्वर का भी विरोध हुआ। साम्यवाद से प्रभावित, प्रगतिवाद के समर्थक कवियों को ईश्वर की सत्ता में ही सन्देह होने लगा। उन्हें लगा कि धर्म की आड़ में गरीबों का शोषण होता है। वे परमेश्वर को शोषण का माध्यम मानने लगे, जो शोषितों को बंधन में डालने की एक शृंखला है। उनके अनुसार ईश्वर वस्तुतः पूँजीवादी व्यवस्था के हृदय की कल्पना मात्र है। इसीलिए वह पीड़ितों के आह्वान पर ध्यान नहीं देता। यदि उसका अस्तित्व रहता तो वह उनकी पुकार अवश्य सुनता। इसीलिए शोषितों, पीड़ितों, बुभुक्षितों के प्रति संवेदनशील कवि ईश्वर का विरोध करने लगे। ईश्वर के प्रति उनके मन में असन्तोष रहा। इसलिए उसके अस्तित्व के विरोध में ही वे क्रान्तिगान गाने लगे। कवि 'अंचल' को प्रतीत हुआ कि ईश्वर आत्म-प्रवंचक है—

ऊपर बहुत दूर है शायद आत्म प्रवंचक एक
जिसके प्राणों में विस्मृत है उर में सुख श्री का अतिरेक[१]।

ईश्वर शोषण यन्त्र

नरेन्द्र शर्मा को भी ईश्वर से बड़ी शिकायत है। उनकी दृष्टि में ईश्वर ही रोग, शोक, दुःख-दैन्य लानेवाला है। इसलिए वे ऐसे लोगों को फटकारते हैं, जो संकट के क्षणों में ईश्वर को पुकारते हैं—

जिसे तुम कहते हो कि भगवान्.....
जो बरसाता है जीवन में
रोग शोक दुःख दैन्य अपार.....
उसे सुनाने चले पुकार[२]?

---

१. मधूलिका—अंचल, पृ० ८।
२. प्रभातफेरी—नरेन्द्र शर्मा, पृ० ८।

ईश्वर के सम्बन्ध में पन्त ने भी ऐसे ही क्रान्तिकारी विचार ग्राम देवता में प्रकट किये हैं। ग्राम देवता रूढ़ियों की शिला पर प्रतिष्ठित है; वह जन-स्वातन्त्र्य के युद्ध को कैसे सहन कर सकता है ? अतः कवि ग्रामदेवता से हृदय थाम लेने को कहता है—

हे ग्राम देव, लो हृदय थाम
अब जन-स्वातन्त्र्य युद्ध की जग में धूमधाम[1]।

और फिर व्यंग्य करते हुए उससे कहता है।

तुम रूढ़ि रीति की खा अफीम लो चिर विराम[2]।

अन्ध-विश्वासों के प्रति यह कटु व्यंग्य बड़ा मार्मिक है।

अन्ध-विश्वास पर प्रहार

भारतीय जन-जीवन के अन्ध-विश्वासों की आलोचना प्रभाकर माचवे ने भी व्यंग्यात्मक शैली में की है। कछुआ भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। जिसप्रकार कछुआ वाह्य प्रभावों के स्पर्श से अपने को अलग कर, स्वयं में आत्मसात रहता है, उसी प्रकार अन्ध-विश्वासों के आवरण में भारतीय संस्कृति अपने को छिपाये रखती है और नये ज्ञान को ग्रहण नहीं करती। इस प्रकार कछुए के प्रतीक द्वारा अन्ध-विश्वास पर वे करारा व्यंग्य करते हैं—

जो हो, मुझे दीखते हो तुम, कछुए
मानो भारत संस्कृति के प्रतीक,
जिसे जरा भी छुये या न छुये
नये ज्ञान की सूक्ष्म सी लहर।

ईश्वर के अस्तित्व के प्रति सन्देह

इसी प्रकार अन्य प्रगतिवादी कवियों ने भी ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह प्रकट किया। स्पष्ट है कि धार्मिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ी क्रान्तिपरक विचारधारा थी। चली आती ईश्वर की सर्वसम्पन्नता पर सन्देह कर, मानव को सर्वोपरि बताना, एक दृढ़ क्रान्तिकारी प्रयास था।

५

आर्थिक विचार-धाराएँ

भारतेन्दु युग

अर्थ-शोषण का विरोध

भारतवर्ष में अंग्रेजों का आगमन सर्वप्रथम व्यापारियों के रूप में हुआ था। अतः उनका मूल उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण था न कि किसी तरह से भारत की उन्नति में सहायक होना। अपनी कुटिल आर्थिक नीति से उन्होंने भारत का अर्थ शोषण प्रारम्भ किया। शोषण के इस क्रम में उन्होंने इंग्लैण्ड में भारतीय वस्तुओं की बिक्री बन्द करवा दी। भारत का कच्चा माल सस्ती कीमतों पर लेकर इंग्लैण्ड भेजने लगे और उससे निर्मित वस्तुओं को भारत में महँगे दामों में बेचने लगे। अब भारतीय तैयार वस्तुओं के लिए इंग्लैण्ड पर निर्भर रहने लगे और भारतीय बाजार विदेशी सामानों से भर गया। भारत अभी मशीनी-प्रगति नहीं कर सका था। अतः ब्रिटिश मिलों की प्रतियोगिता में भारत का उद्योग नहीं टिक सका। कारण, मिल में बनी चीजें अपेक्षाकृत सस्ती होती थीं। फलस्वरूप भारत की सम्पत्ति विदेश पहुँचने लगी।

क्रान्ति की वैचारिक चेतना के आते ही इस अर्थ-शोषण की ओर भी मनीषियों का ध्यान गया। वे क्षुब्ध हुए। क्षोभ और असन्तोष क्रान्ति की जननी है। तत्कालीन युगद्रष्टा भारतेन्दु भी विदेशियों के इस आर्थिक शोषण से बहुत असन्तुष्ट थे। अतः उन्होंने इन शब्दों में अपनी क्षोभ-जनित क्रान्ति प्रकट की—

> अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात इहै इत ख्वारी[1] ॥

प्रतापनारायण मिश्र भी भारतीय सम्पदा को विदेश जाते देखकर क्षुब्ध हैं—

> सर्वसु लिए जात अंग्रेज
> हम केवल 'लयक्चर' को तेज।
> श्रम बिन बातें का करती हैं।
> कहुँ टेंटकन गाजैं टरती हैं[2]।

इन्हें दुःख है कि हम केवल 'लयक्चर' में तेज हैं, श्रम नहीं करते। शोषण के विरुद्ध क्रान्ति की अभिव्यक्ति करनेवालों कवियों में प्रतापनारायण मिश्र महत्त्वपूर्ण हैं। साम्राज्यवादी शक्ति परतन्त्र राष्ट्र के शोषण पर बढ़ती है। इसका अनुभव सहज ही

---

१. भारतेन्दु नाटकावली—इं० प्रे० पृ० ५९८।
२. लोकोक्ति शतक—प्रतापनारायण मिश्र, पृ० ३।

कवि को हो जाता है। 'तृप्यन्ताम' नामक कविता में मार्मिक ढंग से कवि ने इसका चित्रण किया है—

अलकापुरी त्यागि इत आये बड़ी दया कीन्हीं परनाम।
कछु धनपति ने दियो होय तो भोजन को कीजै इतजाम।
तुम्हें समरपैं कहा, हमारी पूँजी में नहिं एक छदाम।
हाँ यह जल, यह जव, ये तंदुल लेहु यक्षगण तृप्यन्ताम[1]।

यक्षगण अलकापुरी से आये हैं। पर पास एक छदाम भी नहीं है। इसलिए यह स्वागत कैसे करें। उसके पास केवल जल और तन्दुल है। उसी से वह उनका स्वागत करता है। आर्थिक शोषण का मार्मिक चित्रण अंग्रेजी शासन के प्रति गहरी क्रान्ति है।

स्वदेशी व्यापार पर बल

अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण का पहला माध्यम व्यापार था। भारतेन्दु ने इसे समझा था और देशकी जनता का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट करवाया था—

कल के कल बल छलन सों छले इंत के लोग।
नित नित धन सों घटत हैं बाढ़त है सुख लोग।
मारकीन मलमल बिना चलत नहीं कछु काम।
परदेसी जुलहान कै मानहु भले गुलाम[2]॥

इस स्थिति में यह आवश्यक था कि विदेश में जाते हुए धन को रोकने का उपाय ढूँढ़ा जाय। भारतेन्दु का ध्यान इस ओर भी गया और उन्हें बोध हुआ कि यदि लोगों का काम मारकीन मलमल के बिना नहीं चल सकता तो उचित होगा कि यहाँ भी कलों की स्थापना हो, जिससे विदेशों में कच्चा माल नहीं जाय और भारत की पूँजी भारत में ही रहे—

बनै वस्तु कल की इंत मिटै दीनता भेद[3]।

उपर्युक्त पंक्ति में भारतेन्दु ने आर्थिक शोषण से मुक्ति का उपाय बताया है कि परम्परा में परिवर्तन कर कल-कारखानों की स्थापना द्वारा आर्थिक क्रान्ति सम्भव है।

विलायती लूट का चित्रण

प्रेमघन और भी तीखी वाणी में इस आर्थिक शोषण के प्रति जेहाद बोलते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि विलायत भारत को लूट करके खा रहा है। तरह-तरह के माल फैलाता है, उसकी वसूली भी छूट जाती है। सारा घाटा भारत के सिर जाता है—

लूटि विलायत भारत खाय। माल ताल बहु विधि फैलाय।
ताको वासूली छुटि जाय। जामैं लागै लाभ दिखाय॥
देसी मालन इहाँ बिचाय। घाटा भारत के सिर जाय[4]॥

---

१. भारतेन्दु युग—डा० रामविलास शर्मा, पृ० १४६।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७३५।
३. वही, पृ० ७३६।
४. इनकमटैक्स—प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० १८५।

ऐसा ही तीखा और व्यंग्यपूर्ण आर्थिक शोषण का वर्णन भारतेन्दु के नये जमाने की मुकरी में है—

भीतर-भीतर सब रस चूसै।
हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेज[1]।

आर्थिक शोषण के विरुद्ध क्रान्ति का ऐसा तीखा स्वर अन्यन्त्र कम ही मिलेगा। अंग्रेजी राज्य में अंग्रेजों के प्रति इस प्रकार की उक्ति को, चुभते हुए व्यंग्य को, अत्यन्त क्रान्तिकारी माना जायगा।

टैक्स के प्रभाव का चित्रण

आर्थिक शोषण का एक सशक्त माध्यम था—टैक्स। अंग्रेजों ने भारतीय जनता पर तरह-तरह से टैक्स लगाकर उनका आर्थिक शोषण आरम्भ कर दिया था। युगद्रष्टा कवियों को शोषण की भीषणता का बोध हुआ। वे शोषण के इस रूप को भी नहीं सह सके। इसलिए उन्होंने इन अत्याचारी टैक्सों का विभिन्न प्रकार से चित्रण कर, उसके विरुद्ध क्षोभ प्रकट कर उसके उन्मूलन के लिए क्रान्ति की आवाज उठायी।

'भारत दुर्दशा' में भारतेन्दु ने टैक्स द्वारा व्यथित जनता की वेदना का चित्रण किया है—

सब के ऊपर टिक्कस की आफत आयी।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जायी[2]।

हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान में भी भारतेन्दु आर्थिक दशा पर क्षोभ प्रकट हुए 'राज कर' की ओर ध्यान आकृष्ट करते है—

कुछ तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि।
बाकी सब व्यौहार में गयौ रह्यौ कछु नाहिं॥
निरधन दिन-दिन होत है भारत भुव सब भाँति।
ताहि बचाइ न कोउ सकत निज भुज बुधि बल कान्ति[3]।

प्रेमघन भी टैक्स के विरुद्ध क्रान्ति के स्वर को उठाते हैं। उनके काव्य में कई जगह टैक्स के प्रति क्षोभ प्रकट हुआ है। वे इन्कमटैक्स की भीषणता के प्रति अश्रु अर्घ्य चढ़ाकर उसका विरोध करते हैं—

रोओ सब मुँह बाय बाय।
हय-हय टिक्कस हाय-हाय[4]।

---

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ८११।
२. वही, पृ० ७३६।
३. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ७३६।
४. प्रेमघन, सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० १८३।

उन्हें लगता है कि एक तो भारतवासी यों ही अपने महत्त्व को भूल चुके, उसपर से टैक्स एक नाग है, जो एक-एक को टो-टोकर डँस रहा है।—

टिकस नाग तापै डंस्यो, एक-एक टोय[1]।

'तृप्यन्ताम' कविता में मँहगाई और टैक्स से पीड़ित, शोषित, दीन, श्रीहीन जनता की परतन्त्रता का करुण चित्रण प्रतापनारायण मिश्र ने किया है—

मँहगी और टिकस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन दाम।
साग पात लौं मिलैं न जिय भरि लेवो वृथा दूध को नाम।
तुमहिं कहा प्यावैं जब हमरो करत रहत जो वंश तमाम।
केवल सुमुखि अलक उपमा लहि नाम देवता तृप्यन्ताम[2]॥

मँहगी और टैक्स से पीड़ित जनता को साग-पात भी नसीब नहीं है फिर दूध का तो नाम लेना भी व्यर्थ है। अतः दूध से नागदेवता को तृप्त कैसे करे। गायों की बलि रोज होती है। अतः उनकी संतुष्टि के लिए कवि उन्हें मात्र सुन्दरी के अलकों की उपमा ही देता है।

कवि परसन ने आर्थिक शोषण के विरुद्ध 'हिन्दी प्रताप' में यत्र-तत्र अपने क्रान्तिकारी विचार प्रकट किये हैं। वे टैक्स के प्रति 'सियापा' करते हुए उसका विरोध इन शब्दों में करते हैं—

हूवे हूवे टिक्स हाय-हाय। कहाँ से देवैं हाय-हाय।
आमद कुछ नहिं हाय-हाय। खरच बढ़ा है हाय-हाय।
× × ×
कोई न छूटा हाय हाय। चुंगी लाइसेंस हाय हाय।
तापर टिक्कस हाय हाय। गयी अमीरी हाय हाय।
आयी फकीरी हाय हाय। गयी मातबरी हाय हाय।
यह टिक्कस है बुरी बुलाय। इससे नहिं छुटकारा हाय।
हे ईश्वर तुम होहु सहाय। हूवै हूवै टिक्कस हाय हाय[3]॥

कवि को चिन्तन करने पर पता चलता है कि अंग्रेजों ने 'भूखों से भी टैक्स लिया है—

गोरों लिये सुभीता किया। खर्चा भारत के सिर दिया।
देन एक के दस २ किया। भूखों से भी टिक्कस लिया[4]।

एक तो मँहगी है। उस पर टैक्स। इतना ही नहीं भारत का सब गेहूँ यूरोप को ढोया जा रहा है—

---

१. पितर प्रलाप, वही, पृ० १५९।
२. भारतेन्दु युग—डा० रामविलास शर्मा, पृ० १४६।
३. सियापा—परसन, हिन्दी प्रदीप, पृ० १६-१७ जुलाई सन् १८८६।
४. क्या २ छोड़ा क्या २ लिया—परसन, वही, पृ० ५, १ फरवरी, सन् १८८९ ई०।

मँहगी चमकी भारत भीतर को यह बिपत सहै अति घोर।
पेट काट के टिक्कस लाओ तिहि पर मँहगी जोर।
× × ×
गोहूँ ढोयो जात भारत को सब यूरप की ओर।
भूखन मरत प्रजा भारत की लेत उसास कटोर[१] ॥

वेरोजगारी का चित्रण

साम्राज्यवादी शक्ति के द्वारा शोषण के फलस्वरूप भारत आर्थिक दैन्य, मँहगी, अकाल आदि से भी ग्रस्त हो गया था। निर्धनता के कारण उदरपूर्ति का कोई उपाय नहीं था। भारत रोग व्याधियों का घर हो रहा था। अंग्रेजों की शिक्षा-विषयक-नीति भी इतनी कुटिल थी कि बी० ए० पास करने पर भी वेकारी ही रहती थी। इन सारी विपत्तियों का हृदयस्पर्शी चित्रण कर इन कवियों ने आर्थिक-क्रान्ति की वैचारिक चेतना उत्पन्न की है।

भारतेन्दु ने वेकारी का बड़ा ही सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया है—

तीन बुलाये तेरह आवैं।
निज निज विपदा रोइ सुनायैं।
आँखौं फूटै भरा न पेट।
क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रेजुएट[२]।

वेकारी के परिणामस्वरूप भारत की दुर्दशा हुई और भारतीय जन-जीवन इतना निकृष्ट हो गया कि पेट भरने के लिए दर-दर कुत्ते की तरह भटकने लगा। जो ठोकर मारता था, वे उसी के पैर चाटते थे—

पेट भरन हित हाय फिरैं कुकर से दर दर।
चाटहिं ताके पैर लपकि मारहिं जे ठोकर[३] ॥

भारत की इस दयनीय स्थिति से क्षुब्ध होकर ईश्वर से पूछते हैं कि हे राम ! किस पाप के कारण भारत की यह दशा है कि हाड़ों की चक्की चलती है और हाड़ों का ही व्यापार होता है। अन्न और दूध का देश आज हाड़-चाम से पूरित हो गया है—

हरे राम ! केहि पापते भारत भूमि मझार।
हाड़न की चक्की चलै हाड़न को व्यापार ॥
अब या सुखमय भूमि महँ नाहीं सुख को लेश।
हाड़ चाम पूरित भयो अन्न दूध को देश[४] ॥

प्रतापनारायण मिश्र ने साम्राज्यवादी शोषण के अत्याचार का पर्दाफाश करते हुए

---

१. कजली—परसन, वही, पृ० ४, मई सन् १८८९ ई०।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, भाग २, पृ० ८१०।
३. रामभरोस—वालमुकुन्द गुप्त निवन्धावली, प्रथम भाग, पृ० ५८६।
४. हे राम, वही, पृ० ५८७।

'प्रेमघन' ने भी 'स्वदेश विन्दु' में आर्थिक क्रान्ति के लिए 'चरखा' अपनाने को कहा है। चरखे के माध्यम से स्वदेशी वस्त्रों का निर्माण होगा और कवि को विश्वास है कि इससे 'मैनचिस्टर' मात हो जायगा—

चला चल चरखा तू दिन रात।
चलता चरख बताता निस दिन ज्यों ग्रीष्म बरसात[1]।
× × ×
कात कात कर सूत मैनचिस्टर को कर दे मात॥

इतना ही नहीं, कवि को अच्छी तरह विश्वास है कि चरखे के माध्यम से ही आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, जिससे दुःखी निर्धन भरपेट दाल और भात खा सकेंगे। सस्ते, शुद्ध खद्दर से अपने शरीर को ढाँक सकेंगे—

चल तू जिससे खाय दुःखी भर पेट दाल और भात।
सस्ता शुद्ध स्वदेशी खद्दर पहिन छिपावें गात[2]॥

स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युगीन कवियों ने साम्राज्यवादी शोषण के विरोध में क्रान्ति के स्वर उठाये। उन्होंने न केवल राष्ट्रीय क्रान्ति की चेतना उत्पन्न की, बल्कि आर्थिक क्रान्ति पर भी उतना ही बल दिया। 'स्वदेशी' आन्दोलन को जन्म देकर उसके द्वारा राष्ट्र को अर्थ-शोषण से मुक्ति पाने का एक सशक्त अस्त्र दिया।

द्विवेदी युग

इस युग में भी साम्राज्यवाद आर्थिक शोषण में पूर्व युग की भाँति ही संलग्न था। हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से शोषित थे। जनता और निर्धन हो गयी थी। कहा जा चुका है कि बीसवीं सदी के आरम्भ से राजनीतिक माँगों में उग्रता आने लगी थी। राजनीति के साथ ही आर्थिक क्षेत्र में उग्र कदम उठने लगे।

दुर्भिक्ष का चित्रण

दुर्भिक्ष का प्रकोप भारतेन्दु युग में भी था। इस युग में भी वह ज्यों का त्यों वर्तमान रहा। अन्न के लिए हाहाकार मचा हुआ था। मैथिलीशरण गुप्त को ऐसा लगा कि दुर्भिक्ष स्वयं सशरीर चारों ओर घूमने लगा है कि अन्न के लिए चारों ओर पुकार मची है। दुर्भिक्ष इतना भयंकर था कि सम्पूर्ण विश्व में जितने व्यक्ति युद्ध में सौ वर्षों में मरते, उतने व्यक्ति दस वर्षों में ही भूख से मर गये थे—

दुर्भिक्ष माना देह धर के घूमता सब ओर है,
हा! अन्न! हा! हा! अन्न का रव गूँजता घनघोर है।
सब विश्व में सौ वर्ष में, रण में मरें जितने हरे।
जन चौगुने उनसे यहाँ दस वर्ष में भूखों मरे[3]॥

---

१. चरखे की चमत्कारी—प्रेमघन सर्वस्व—प्रथम भाग, पृ० ६३३।
२. चरखे की चमत्कारी—प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ६३३।
३. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ८७।

इस दुर्भिक्ष के फलस्वरूप लोग जाति, धर्म तक त्यागते जा रहे हैं। वे पेट भरने के लिए दूसरा धर्म अपनाने को मजबूर हैं। विधर्मी होना उनकी लाचारी है—

हमको क्षमा करिये क्षुधावश हम तुम्हें हैं खा रहे,
होकर विधर्मी हाय ! अब हम हैं विदेशी हो रहे[1] ॥

देश की यह दयनीय दशा देखकर प्रत्येक सहृदय के हृदय में वर्तमान शोषण के प्रति क्रान्ति का उन्मेष होना स्वाभाविक है।

वस्त्र संकट भी उतना ही अधिक था। लज्जा निवारण तक के लिए नारियों को भी वस्त्र अपर्याप्त थे—

नारी जनों की दुर्दशा हमसे कही जाती नहीं,
लज्जा बचाने की अहो जो वस्त्र भी पाती नहीं[2] ॥

पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा ने भी भारत की होली का करुण चित्र उपस्थित किया है। विदेशी चीजों ने दगा दी है। सारा धन विदेश चला जा रहा है। फसल बहुत कठिनाई से पैदा हो रही है। अनाज की चारों ओर कमी है। इसलिए अब तो होली में देवगणों को भी भाजी का भोग लगाना होगा।—

दगा विदेशी चीजों ने दे, मारी हमको गोली है
धन सब जाय विदेश चला अब कहँ कौन बल होली है ॥

× ×

फसल दुःख से उपजावैं बहु, परै अन्य की झोली है।
भोग लगाओ भाजी की अब, अहो देवगण ! होली है[3] ।

'स्वदेशी कुण्डल' में राय देवीप्रसाद पूर्ण ने भी इस दशा का करुण चित्र उपस्थित किया है—

सुनो रमापति ! हाय ! प्रजा धन-हीन रैन-दिन,
हैं अति व्याकुल वृन्द मुकुट के यथा चंद बिन।

कवि ऐसे लोगों को धिक्कारता है जो बन्धुओं की आर्थिक स्थिति को देखकर भी उनकी ओर ध्यान नहीं देते—

लाखों देशी बन्धु यहाँ भूखों मरते हैं,
पर हम उनकी ओर नहीं दृग भी करते हैं[4] ।

कृषकों की दयनीयता का चित्रण

किसानों की दयनीय दशा का चित्रण कर हिन्दी कवियों ने आर्थिक शोषण के प्रति क्रान्तिकारी विचार-धाराएँ जगायी हैं। मैथिलीशरण गुप्त ने भारतीय किसानों के दुःख दैन्य का अत्यन्त मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया है—

---

१. भारत-भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ८७
२. वही, पृ० १८९।
३. भारत की होली—स्व पुष्पांजलि-पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा, पृ० ३७।
४. गिरीश-रामचरित उपाध्याय, सरस्वती, दिसम्बर १९१७, पृ० ३६७।

बनता है दिन रात हमारा रुधिर पसीना,
जाता है सर्वस्व सूद में फिर भी छीना।
हा हा खाना और सर्वदा आँसू पीना,
नहीं चाहिये नाथ ! हमें अब ऐसा जीना[1]।

केशवप्रसाद मिश्र भी ऐसे किसान की दयनीय दशा का करुण चित्रण करते हैं। जो किसान धैर्य वश कभी दुःखों का अनुभव भी नहीं करता था, वही आज भूखों मर रहा है—

जो करता था पेट काट कर सरकारी कर-दान,
रहता था प्रस्तुत करने को अभ्यागत का मान।
नहीं हुआ था जिसे धैर्यवश कभी दुःख का गान,
आज वही भूखों मरता है मातादीन किसान।

इस प्रकार दीन दुःखी भारतीय जनता की करुण दशा का बोध अनेक कवियों को हुआ। इस बोध से व्यथित होकर, असंतुष्ट होकर, उन्होंने तत्कालीन आर्थिक परिवेश का यथार्थ अंकन कर जन-जागरण में आर्थिक-क्रान्ति की वैचारिक चेतना जाग्रत की।

स्वदेशी आन्दोलन पर बल

भारतेन्दु युग की ही भाँति इस युग के कवियों ने भी आर्थिक क्रान्ति का व्यवहारिक उपाय 'स्वदेशी' को बताया। शोषण के विरुद्ध जहाँ विरोध जागरण की आवश्यकता है, वहीं यह भी उतना ही आवश्यक है कि कोई ऐसा मार्ग निर्धारित किया जाय, जिसके आधार पर क्रान्ति व्यवहारिक होकर सफल हो सके। इसीलिए 'स्वदेशी' को अपनाने पर इस युग के कवियों ने भी अत्यन्त बल दिया। राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वदेशी को लगभग अस्त्र रूप में ग्रहण किया था। पर हिन्दी कवियों ने उसके पूर्व ही 'स्वदेशी' का नारा लगाया था। वे वस्तुतः क्रान्तिद्रष्टा थे। इस तथ्य को समझ चुके थे कि स्वदेशी के माध्यम से ही अंग्रेजों के चंगुल से मुक्त हुआ जा सकता है। सन् १९०३ में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विदेशी वस्त्रों से हानि का उद्घाटन करते हुए स्वदेशी अपनाने का आग्रह किया—

विदेशी वस्त्र क्यों हम ले रहे हैं ?
वृथा धन देश का क्यों दे रहे हैं ?
न सूझै है अरे भारत भिखारी।
गयी है हाय तेरी बुद्धि मारी।

× ×

स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।

---

१. किसान—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ६।

शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जाओ पास, उससे दूर भागो[१] ॥

पण्डित गिरधर शर्मा भी इस तथ्य से परिचित हैं कि 'स्वदेशी' के माध्यम से ही कल्याण सम्भव है। भारत का उत्थान औद्योगिक व्यापारिक उन्नति से ही सम्भव है—

औद्योगिक व्यापारिक उन्नति कर भारत को उच्च करो।
माल विदेशी यहाँ न खपने पावे, सन्तन ध्यान धरो[२] ॥

पण्डित शुकदेव तिवारी दृढ़ता से कहते हैं कि वे अब 'स्वदेशी' ही बरतेंगे, भले ही विदेशी वस्तुएँ बहुमूल्य हों अथवा वे बिना कीमत ही मिलें—

हों विदेशी वस्तुएँ, बहुमूल्य, बे कीमत मिलें।
पर स्वदेशी ही सदा, वर्तूंगा अब तो मैं जरूर[३] ॥

देश की दरिद्रता को भगाने का एकमात्र उपाय स्वदेशी है। ऐसा दृढ़ विश्वास पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा को है। देशोद्धार के उपायों को प्रश्नबद्ध रूप में उपस्थित करते हुए वे कहते हैं—

प्रश्न—हैं कौन आपके अतिथि बोलिये प्यारे ?
उत्तर—भारत के प्रेमी औ कारीगर सारे।
प्रश्न—किस भाँति देश की दरिद्रता यह भागे ?
उत्तर—जब करें स्वदेशी ग्रहण विदेशी त्यागें[४]।

कल-कारखानों की स्थापना पर बल

कल-कारखानों की स्थापना भी स्वदेशी उत्थान के लिए आवश्यक है। कारण, तभी विदेशी अपने घर बैठ सकेंगे और आर्थिक क्रान्ति का लक्ष्य पूरा हो सकेगा। इसीलिए पण्डित गिरिधर शर्मा कहते हैं—

व्यापार वाणिज्य यहाँ बढ़ा दो,
अच्छे चला दो कल कारखाने,
विदेशियों की प्रतियोगिता में
प्यारो उन्हीं के घर में बिठा दो[५]।

तत्कालीन कवियों ने इसका अनुभव भली-भाँति कर लिया था कि बिना औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक उन्नति सम्भव नहीं। शिल्प का प्रचार भी आर्थिक क्रान्ति के लिए आवश्यक है। इसीलिए भारतमाता कहती है—

विद्या भी मेरे पुत्रों को नहिं उचित सिखाई जाती है।
यह वर्तमान सिच्छा वकील या नौकर उन्हें बनाती है ॥

---

१. स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार—महावीरप्रसाद द्विवेदी, सरस्वती, जुलाई १९०३ ई०।
२. कर्त्तव्य—पण्डित गिरधर शर्मा, स्वतन्त्रता की झनकार, प्रथम भाग।
३. असहयोगी के उद्गार—पण्डित शुकदेव तिवारी, पृ० २१।
४. देशोद्धार सोपान—पद्य पुष्पांजलि—पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा पृ० ४१।
५. उद्बोधन—पण्डित गिरिधर शर्मा, पृ० ४२२, सरस्वती, मई १९०६ ई०।

है सबसे बढ़कर आवश्यकता है मुझे सिल्प की आज।
वानिज्य बिना नहिं कभी सरैगा मेरा कुछ भी काज[1] ॥

स्पष्ट है कि भारतमाता के रूप में कवि उद्‌गार प्रकट करता है कि—

इससे बढ़कर उसे शिल्प की आवश्यकता है। इतना ही नहीं, वह देखता है कि केवल खेती की उन्नति से भी काम नहीं चल सकता, जब तक उसके पुत्र शिल्प-उपज के लिए विदेशों का मुँह ताकते रहेंगे—

फिर केवल खेती की उन्नति से भी न काम चल सकता है।
जब तक सुतगन सब सिल्प उपज हित मुख विदेस का तकता है[2] ॥

उस समय भारत उद्योग-धन्धा विहीन था। अतः परमुखापेक्षी था। 'भारत भारती' में मैथिलीशरण गुप्त ने इस परमुखापेक्षिता पर कई जगह क्षोभ प्रकट किया। भारतीय वस्त्र आदि के लिए तो विदेशों के आश्रित थे ही। यहाँ तक कि भारतीय ललनाओं का सौभाग्य-चिह्न चूड़ियाँ भी विदेशी पहनी जातीं थीं। कवि को लगता है कि इसीलिए भारत अपने सौभाग्य से वंचित हो गया। अतः वह अपना क्षोभ प्रकट करता है—

कुल नारियाँ जिनको हमारी हैं करों में धारतीं-
सौभाग्य का शुभ चिह्न जिसको हैं सदैव विचारती,
वे चूड़ियाँ तक हैं विदेशी देख लो, बस हो चुका,
भारत स्वकीय सुहाग भी परकीय करके खो चुका[3]।

इसलिए आर्थिक क्रान्ति की आकांक्षा से अभिप्रेरित होकर कवि वैश्यों से देश में कल-कारखानों की स्थापना करने को कहता है, जिससे सम्पूर्ण वस्तुएँ देशी हों, यहाँ से कच्चा माल बाहर न जाये और आर्थिक क्रान्ति में सफलता मिले—

अब तो उठो हे बन्धुओ! निज देश की जय बोल दो,
बनने लगें सब वस्तुएँ, कल-कारखाने खोल दो।
जावे यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं—
हो 'मेड इन' के बाद बस अब 'इण्डिया' ही सब कहीं[4]।

पूँजीवाद के प्रति आक्रोश

इस प्रकार तत्कालीन कवियों ने विदेशियों द्वारा देश के आर्थिक शोषण के विरोध में क्रान्ति की। जन-मानस में शोषण के प्रति उत्तेजना उत्पन्न की। साथ ही इस युग के हिन्दी-काव्य में यदि एक ओर विदेशियों द्वारा आर्थिक शोषण के विरोध में क्रान्ति के विचार प्रकट हुए हैं तो दूसरी ओर पूँजीवाद के प्रति भी आक्रोश प्रकट हुआ है। आर्थिक वैषम्य का एक कारण पूँजीवादियों द्वारा शोषण भी रहा है।

---

१. शिल्प व्यापार शिक्षा—भारत विनय—श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र, पृ० ८१।
२. वही।
३. भारत भारती—मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १०३।
४. वही, पृ० १६८।

कवि त्रिशूल अर्थ-वैषम्य का चित्रण करते हुए कहते हैं कि कुछ लोग इतना खा गये हैं कि अजीर्ण हो गया है और कुछ लोग भूख से मर रहे हैं—

कुछ भूखों मर रहे महा तनु शीर्ण हुआ है।
कुछ इतना खा गये घोर अजीर्ण हुआ है।
कैसा यह वैषम्य-भाव अवतीर्ण हुआ है,
जीर्ण हुआ मस्तिष्क, हृदय संकीर्ण हुआ है[1]।

इतना ही नहीं, वे इससे भी क्षुब्ध हैं कि श्रम कौन करता है और मौज कौन करता है और उपजाता कौन है—

श्रम किसका है मगर मौजे हैं कौन उड़ाते।
हैं खाने को कौन, कौन उपजा कर लाते[2]॥

आगे कवि यह कामना करता है कि सांसारिक सम्पत्ति पर सबका समान हक हो—

सांसारिक सम्पत्ति पर सबका सम अधिकार हो।
वह सब खेती या शिल्प हो विद्या या व्यापार हो[3]॥

इस प्रकार कवि पूँजीवाद के प्रति क्रान्ति करते हुए साम्यवाद की स्थापना चाहता है।

साम्यवाद की स्थापना की कामना

माधव शुक्ल भी 'सचेत श्रम जीवी' में पूँजीपतियों को चेतावनी देते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि कभी जमींदार, बन, कभी महाजन बन और कभी और-और माध्यम से हमें दबाते रहे। पर सहने की भी सीमा है। ठोकर खाकर आज आग भड़क उठी है। अब यह दबाने से नहीं दबेगी। अतः जल्दी बुझा लो, अन्यथा तुम्हारी भी खैर नहीं है—

लगी है अब आग झोपड़ों में मुसाहिबो! अपने घर सँभालो।
तुम्हारी भी खैर अब नहीं महल, महलों के रहने वालो॥
+ +
कभी जिमींदार बन सताया कभी हुकूमत में धर दबाया।
महाजनी से कभी मिटाया गरज कि हर भाँति से सताया॥
ढके हुए चीथड़ों से तन को सहा किये जुल्म ये बराबर।
मगर कहाँ तक सहेंगे आखिर भड़क उठी आग खाके ठोकर॥
दबाये 'माधो' नहीं दबेगी जहाँ तलक जल्द हो बुझा लो।
तुम्हारी भी खैर अब नहीं है[4]।

स्पष्टतः उपर्युक्त पंक्तियाँ आर्थिक शोषण के प्रति भीषण क्रान्ति का नारा लगाती

---

१. साम्यवाद—राष्ट्रीय मन्त्र—त्रिशूल, पृ० १३।
२. वही, पृ० १५।
३. सचेत श्रमजीवी—जागृत भारत—माधव शुक्ल, पृ० ५०-५१।
४. सचेत श्रमजीवी—जागृत भारत—माधव शुक्ल, पृ० ५०-५१।

हैं। पूँजीवाद आर्थिक शोषण की एक पद्धति ही है। इसलिए आर्थिक साम्य के लिए इस पूँजीवाद पद्धति में भी परिवर्तन आवश्यक है।

इस प्रकार द्विवेदी युगीन कवियों ने वर्तमान आर्थिक-वैषम्य का चित्रण कर, उस वैषम्य के प्रति जन-जीवन में आक्रोश पैदा किया, असन्तोष पैदा किया और कहने की आवश्यकता नहीं कि असन्तोष ही क्रान्ति की जननी है। असन्तोष वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन चाहता है और परिवर्तन क्रान्ति है।

परिवर्तन या क्रान्ति के लिए कवियों ने 'स्वदेशी' पर बल दिया, क्योंकि तत्कालीन विदेशी अर्थ-नीति में ही परिवर्तन की आवश्यकता थी। स्वदेशी के अन्तर्गत ही देश में उद्योग-धन्धों का विकास, कल-कारखानों की स्थापना भी अन्तर्निहित है। साथ ही उन्होंने पूँजीपतियों को भी चेतावनी दी कि आज शोषित जन-क्रान्ति के लिए तत्पर हैं।

छायावाद युग

पूर्व युगों की भाँति छायावादी हिन्दी-काव्य में भी आर्थिक क्रान्ति की विचार-धाराओं की अभिव्यक्ति होती रही। इस युग का आर्थिक परिवेश पूँजीवाद से आच्छन्न था। सामन्ती अर्थ-व्यवस्था टूट गयी थी पूँजीवादी अर्थतंत्र प्रधान हो गया था साथ ही इस क्षेत्र में विदेशी शोषण तो मौजूद था ही। अतः व्यापक पैमाने पर आर्थिक पक्ष की अभिव्यक्ति इस युग के काव्य में हुई। लोग आर्थिक-व्यवस्था में मूल परिवर्तन की आवश्यता का अनुभव कर रहे थे। विदेशी अर्थ-परतन्त्रता से मुक्ति पाने की कामना के साथ ही पूँजीवाद का भी विरोध हुआ। छायावादी उत्तरार्द्ध-काव्य में शोषण के प्रति विरोध-भावना और साम्य की कामना व्यक्त हुई। परिणामस्वरूप इस युग के काव्य में वर्ग-संघर्ष का चित्रण विशेष रूप से होने लगा।

स्वदेशी का आग्रह

'स्वदेशी आन्दोलन' भारतेन्दु युग में ही प्रारम्भ हो चुका था। विदेशी अर्थ-परतन्त्रता से मुक्ति पाने के लिए इस युग में भी उसका आग्रह बना रहा तथा यह अत्यधिक विस्तृत हुआ और छायावाद युग में इसका व्यवहारिक रूप प्रकट हुआ। स्वदेशी-आन्दोलन के फलस्वरुप देश के उद्योग-धन्धों का विकास हुआ और पूँजीपति वर्ग की स्थापना बढ़ती गयी। इससे निर्धन जनता और पूँजीपतियों के बीच की खाई बढ़ी। सहृदय कवियों को इस वैषम्य से मर्मान्तक पीड़ा हुई और उन्होंने पूँजीवाद का विरोध कर आर्थिक क्रान्ति की कामना की।

कहा जा चुका है कि इस युग में स्वदेशी की कामना तीव्रतम हो उठी थी। इस काल में चर्खा और खादी-प्रचार ने स्वदेशी का रूप ले लिया था। अतः इनकी अभिव्यक्ति भी हिन्दी काव्य में अत्यधिक हुई। बल्कि यों कहें कि इस युग में स्वदेशी का पर्याय खादी मानी जाने लगी। इसीलिए लोचनप्रसाद पाण्डेय की आकांक्षा है कि प्रत्येक घर में खादी हो, ताकि पवित्रता रहे—

कृषक रहें त्राण मुक्त सब हों शिक्षित सच्चरित्र,
प्रतिगृह को पावन करे, 'खादी' वस्तु पवित्र[1]।

कवियों को खादी पवित्रता का चिह्न, दुःख-दैन्य हरनेवाली, साम्य की प्रतिष्ठाता, सर्वगुणों से भरपूर पट रानी लगती है—

कोमल अमल अति मंजुल मनोहर हैं,
शुद्ध साधुता की सुचिता की या निसानी है।
दौलत प्रदानी देखि दारिद विलानी जाहि
वशता विवसता को दूर बिलगानी है।
हीनता हैरानी दुःख दीनता दुरानी सबै,
समता-स्वतन्त्रता की तान मृदु तानी है।
सर्वगुन खानी कवि कैरव बखानी पट-
पाट पटरानी यह खादी महरानी है[2]।

खादी-महात्म्य का वर्णन

इन्होंने खादी महात्म्य का वर्णन अत्यन्त विस्तार से किया है। इनके अनुसार खादी स्वतन्त्रता की दूतिका, स्वराज्य की सूतिका और राष्ट्र की शोभा है। वह दरिद्रता को नाश करनेवाली, भारत की बर्बादी मिटानेवाली, परतन्त्रता को मारनेवाली साथ ही भारत की आजादी की परिचारिका है—

पूरन स्वतन्त्रता की दूतिका बनी है कैधों
सूतिका स्वराज्य कैधों सोभा राष्ट्रवादी की।
कैधों दरिद्रताविनासिनी दवा है कैधों
नासिनी है भारत की नीकी बरबादी की।
पाप परतन्त्रता की मारिका अचूक कैधों,
प्यारी परिचारिका है भारत आजादी की[3]।

खादी के साथ ही चर्खे को भी लोग आर्थिक क्रान्ति का एक सशक्त अस्त्र मानते रहे। कारण, खादी-उत्पादन का आधार-अस्त्र चर्खा है। इसलिए चर्खा-महात्म्य के गुणगान द्वारा भी कवि लोगों को आर्थिक क्रान्ति के लिए प्रेरित करते रहे। कवि दीनदत्त का विश्वास है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए यह अनिवार्य है—

यदि चाहते सुख आप हैं तो शीघ्र चर्खा लीजिए।
स्वाधीनता आर्थिक मिलेगी, दुःख चर्खा कीजिए[4]।

इतना ही नहीं, चर्खा वह सुदर्शन चक्र है, जिसका प्रयोग विश्वकर्मा गांधी ने जनता-जनार्दन के उद्धार के लिए किया—

---

१. चर्खा के प्रति—[illegible] पाण्डेय, माधुरी, फाल्गुन, १९८७, पृ० २३६।
२. खादी लहरी—बुद्धिनाथ झा कैरव, पृ० १।
३. वही, पृ० ५।
४. चर्खा—दीनदत्त, पृ० ५।

यह चर्खा चक्र सुदर्शन है,
मनोहर जिसका दर्शन है।
किया विश्वकर्मा गांधी ने इसका पुनः प्रचार,
दिया जनार्दन जनता के कर करने को उद्धार।
यही सुख-स्वराज्य साधन है,
यही चर्खा चक्र सुदर्शन है[1]।

विदेश से प्रति वर्ष वस्त्र खरीदने के कारण, देश की सम्पत्ति चली जाती है। यदि र्खा चले तो विदेशी वस्त्र नहीं खरीदना पड़े। अतः दरिद्रता दूर करने के लिए चर्खा या 'स्वदेशी' का आरम्भ श्रेयस्कर है—

चली जात परदेस अमित सम्पत्ति प्रति वर्षा,
दीन दीनता दूर करै चलि घर-घर चर्खा[2]।

कवि सुमित्रानन्दन पन्त भी चर्खा के गीत गाते हैं। उनके अनुसार चर्खा जीवन सीधा-साधा नुस्खा है। साथ ही वह स्वदेश के धन का रक्षक है—

भ्रम भ्रम भ्रम—
घुम, घुम, भ्रम भ्रम रे चरखा
कहता : मैं जन का परम सखा,
जीवन का सीधा सा नुस्खा—
श्रम, श्रम, श्रम।

× ×

सेवक पालक शोषित जन का,
रक्षक मैं स्वदेश के धन का,
कातो हे! काटो तन मन का
भ्रम, भ्रम, भ्रम[3]।

रामचरित उपाध्याय भी व्यंग्य के माध्यम से कहते हैं कि विदेशी वस्त्रों के उपयोग देश का धन विदेश चला जायगा और तभी भारत का दुःख दूर होगा—

वस्तु विदेशी का व्यवहार,
करते रहिये बारम्बार।
कभी स्वदेशी वस्तु न छूना,
आ वह जावेगा दुःख दूना।
सम्पत्ति जावे चली विदेश
तब भारत को मिटे न क्लेश—[4]।

१. [illegible]
२. [illegible]
३. [illegible] —सुमित्रानन्दन पन्त, [illegible]
४. [illegible]

इस प्रकार इस युग में चर्खा 'खादी' का अस्त्र रहा और स्वदेशी प्रचार का माध्यम बना। स्वदेशी ग्रामोद्योग का पर्याय चर्खे को माना गया। अर्थ-परतन्त्रता से मुक्ति पाने का साधन स्वदेशी वस्त्र था और इसके लिए खादी अपनाना आवश्यक था। इसीलिए इस युग के कवियों ने चरखा, खादी और स्वदेशी के गुणगान द्वारा आर्थिक क्रान्ति का आह्वान किया।

पूँजीपतियों पर व्यंग

आर्थिक परतन्त्रता के कारण भारतीय जनता का शोषण भिन्न-भिन्न रीतियों से हुआ था। इस दयनीय स्थिति से जनता तड़प उठी और उसकी इस तड़पन की, आह की अभिव्यक्ति कवियों ने वर्ग-चेतना के रूप में की। कहा जा चुका है कि तत्कालीन युग में यदि एक ओर विदेशी-शोषण के प्रति आर्थिक क्रान्ति हो रही थी तो दूसरी ओर देश में औद्योगीकरण की चेतना के फलस्वरूप जिस पूँजीवाद का आविर्भाव हो रहा था, उसके प्रति भी विरोध-भावना आरम्भ हो चुकी थी। हिन्दी-काव्य में भी पूँजीवाद के प्रति विभिन्न रूपों में क्रान्ति की विचारधाराएँ अभिव्यक्त हुई हैं।

नाथूराम शंकर शर्मा पूँजीवाद के अत्याचारों का चित्रण करते हुए पूँजीपतियों पर व्यंग्य करते हैं—

न कंकाल का पिण्ड छोड़ा करो
लहू चीथड़ों का निचोड़ा करो।
कहो दाल यों छातियों पर दली
न विज्ञान फूला न विद्या फली।

शोषित जनता का यथार्थ चित्रण

तत्कालीन समाज में निर्धन जनता शोषण के कारण अस्थि-पंजर मात्र रह गयी थी। पीड़ित होकर वह दर-ब-दर घूम रही थी। नरेन्द्र शर्मा ऐसी शोषित जनता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर पूँजीवाद के प्रति क्रान्ति की भावना फैलाते हैं—

कृश कंकाल
नसों के नीले जाल
अस्थि-पंजर निष्प्राण,
शून्य श्वासों के भार;
यही हैं वे नादान
भटकते भूले बाल,
दीन कंकाल
नग्न कंकाल[1]।

'भैंसागाड़ी' शीर्षक कविता में भगवतीचरण वर्मा ने शोषण से उत्पन्न दयनीय दशा

१. प्रभातफेरी—नरेन्द्र, पृ० १००।

का मार्मिक चित्रण किया है। मानव-मानव नहीं रहकर पशु बन गया है और माताएँ गुलाम पैदा करती हैं। वे पैदा होते हैं और मरते हैं—यही एकमात्र कारण है—

पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम,
पैदा होना, फिर मर जाना,
बस यह लोगों का एक काम[1]।

निराला ने भी वर्ग-वैषम्य का चित्रण यत्र-तत्र किया है। उनकी 'भिक्षुक' शीर्षक कविता शोषित मानवता का करुण और जीता-जागता चित्र उपस्थित करती है—

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता[2]।

इसी प्रकार 'दान' शीर्षक कविता में उन्होंने पूँजीपतियों का एक और अत्याचारी रूप प्रस्तुत किया है। वे बन्दरों को तो पुए खिलाते हैं पर भिक्षुक की ओर उलट कर तकते तक नहीं। इस प्रकार कवि ने उनकी 'दान' भावना पर तीखा व्यंग्य किया है—

झोली से पुए निकाल लिए
बढ़ते कपियों के हाथ दिए,
देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,

दीनों की असीम सहन शक्ति की चर्चा भी वे करते हैं—

सह जाते हो
उत्पीड़न की क्रीड़ा सदा निरंकुश नग्न,
हृदय तुम्हारा दुर्बल होता मग्न[3]।

वर्ग वैषम्य का चित्रण

दिनकर की रचनाओं में वर्ग-वैषम्य और तीखे रूपमें चित्रित हुआ है। कवि इसे सहन नहीं कर सकता कि एक ओर कुत्तों को दूध मिले, वस्त्र मिले और बालक भूख से आकुल रहें, वस्त्रहीन जाड़े की रातों में माँ की हड्डी से चिपक कर ठिठुरते रहें। व्याज चुकाने के लिए युवतियों की लाज बेच दी जाती है और दूसरी ओर मालिक

१. मानव—भगवतीचरण वर्मा, पृ० ७५, सन् १९४८ ई०।
२. भिक्षुक—निराला, परिमल, पृ० १३३।
३. दीन—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', परिमल, पृ० १४४।

में प्रगतिवादी तत्त्व विकसित होने लगे और पूँजीवादी शोषण का विरोध प्रारम्भ हो गया। यों रूसी क्रान्ति सन् १९२० में सफल हो चुकी थी और तभी से साम्यवाद का स्वर जन-जीवन में फैलने लगा था। पर लगभग एक दशक तक साम्यवाद की प्रशंसा ही होती थी, पूँजीवाद का विरोध उतना नहीं। सन् १९३० के आस-पास से पूँजीवाद का स्पष्ट विरोध आरम्भ हुआ। पर साहित्य में उसका स्पष्ट दर्शन प्रगतिवाद-युग से होता है। प्रगतिवाद से पूर्व का साहित्य, जिसमें साम्यवाद की चर्चा है, वह इस युग पृष्ठभूमि-सी है। इस प्रकार प्रगतिवाद-युग से ही साहित्य में स्पष्ट साम्यवाद का स्वर गूँजने लगा और पूँजीवाद-शोषण के प्रति विरोध स्वर फूटा।

पूँजीवाद का विरोध

आलोच्य-काल में पूँजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति का शंखनाद हुआ। वह पूँजीवादी चाहे विदेशी हो चाहे भारतीय। शोषण के प्रति भीषण आक्रोश और शोषित के प्रति सहानुभूति लेकर कवियों ने क्रान्ति-गान किया। शोषण का अत्याचारी रूप इन कवियों ने अत्यन्त सफलता के साथ काव्य में चित्रित किया है। शोषकों की दृष्टि में शोषितों की रोटी की माँग विद्रोह है और अपने अभावों को पूरा करने का उनका प्रयास 'डाका' समझा जाता है—

> रोटी की भी माँग किसी से, करना है विद्रोह कहाता।
> प्रिये अभावों को भी पूरा करना, 'डाका' समझा जाता[1]।

सुमित्रानन्दन पन्त ने वृद्ध भिखारी के मार्मिक चित्रण के द्वारा पूँजीवाद की विभीषिका के प्रति क्षोभ प्रकट किया है। वृद्ध भिखारी जब किसी के समक्ष खड़ा होकर याचना करता है, तो प्रतीत होता है कोई जानवर पिछले पैरों के बल चला जा रहा है—

> भूखा है कुछ पैसे पा, गुनगुना
> खड़ा हो जाता वह घर
> पिछले पैरों के बल उठ
> जैसे कोई चल रहा जानवर[2]।

क्षुधित मानव की हालत आज इतनी बदतर हो गयी है कि वह गोबर से दाना बीनने और कुत्ते के मुँह से रोटी छीनने को लाचार है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' द्वारा चित्रित यह चित्र आर्थिक वैषम्य का ऐसा हृदय-द्रावक दृश्य उपस्थित करता है, जो सहज ही सहृदयों में आर्थिक-क्रान्ति के लिए उन्मेष करता है—

> हंत भूखा मानव बैठा
> गोबर से दाने बीन रहा
> और झपट कुत्ते के मुँह से

---

१. महाक्रान्ति का घूँघट खोलो—हरिकृष्ण प्रेमी, विशाल भारत, फरवरी १९३९, पृ० २११।
२. ग्राम्य—सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २९–३०।

कवियों ने उनके विनाश की कामना की है, किसानों और मजदूरों का आह्वान किया है। मार्क्सवाद का गुणगान किया है।

सोहनलाल द्विवेदी ने 'हलधरों' का आह्वान करते हुए कहा कि तुम जब जगोगे, तभी हिन्दुस्तान जगेगा—

जब तक तुम न जगोगे, तब तक
नहीं जगेगा हिन्दुस्तान,
हिन्दुस्तान बसा है तुममें
क्या तुम हो इससे अनजान ?

इतना ही नहीं, वे आगे उसकी शक्तियों से उसे और भी परिचित करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे ही बल पर शासन चलते हैं। तुम्हें मालूम नहीं क्योंकि तुम्हारे ही धन पर सिंहासन भी निर्भर है—

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हारे
बल पर चलते हैं शासन,
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात ? तुम्हारे
धन पर निर्भर सिंहासन[१]।

मजदूरों को जगाते हुए भी वे उसे शिव बताते हैं, जो अपने सिर पर आकाश लेकर घूमा करता है। आगे ये उसे प्रलयंकर महेश कहते हुए तांडव करने को कहते हैं ताकि अत्याचारों का ध्वंस होकर फिर मंगलमय का सृजन हो सके—

मजदूर ! भुजाएँ वे तेरी
मजदूर शक्ति तेरी महान्
घूमा करता तू महादेव।
सिर पर लेकर के आसमान।

+ +

तू ब्रह्मा विष्णु रहा सदैव
तू है महेश प्रलयंकर फिर
हो तेरा तांडव शंभु ! आज
हो ध्वंस, सृजन मंगलकर फिर[२]।

शिवमंगल सिंह 'सुमन' भी मजदूरों और किसानों को निमंत्रित करते हैं कि तुम्हारी गरजन से आज प्रलय हो जायगा। शोषकों का नाश हो जायगा। अत्याचारियों की छाती पर चढ़कर तुम आगे बढ़े चलो—

तुम गरजो आज प्रलय होगी
शोषक वर्गों की क्षय होगी

---

१. हलधरसे—सोहनलाल द्विवेदी, युगाधार, पृ० २३–३४।
२. मजदूर—सोहनलाल द्विवेदी, युगाधार, पृ० ३८–३९।

दुनिया के कोने-कोने से
मजलूमों की जय जय होगी
अत्याचारी की छाती पर तुम चढ़े चलो तुम बढ़े चलो ।
मजदूर किसानों बढ़े चलो[1] ।

रामदयाल पाण्डेय भी हलधर किसानों को सम्पूर्ण भूगोल को हिलाने के लिए निमन्त्रण देते हैं, ताकि पाप की पोल खुल जाए—

चलो दल के दल, हल के साथ, हिलाने को समूल भूगोल
लगे हँसिया खुरपी का जोर खोलने को पापों की पोल[2] ।

सुमित्रानन्दन पन्त ने भी श्रमजीवियों की स्तुति की है। इन्हें विश्वास है कि श्रमजीवी ही लोक क्रान्ति का अग्रदूत है—

वह पवित्र है : यह जग के कर्दम से पोषित
वह निर्माता : श्रेणि, वर्गधन, बल से शोषित
+ ÷
लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वर वीर, अनादृत
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित
चिर पवित्र वह : भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रक्षालित[3] ।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' भी क्रान्ति के प्रमुख गायकों में रहे हैं। वे भी नंगे-भूखों को जागने के लिए कहते हैं—

जागो, मेरे मानव, जिनके
हाथ-पाँव हैं सूखे-सूखे,
जागो नरकंकाल करोड़ों
जागो मेरे नंगे-भूखे[4] ।

साम्यवाद

शोपित वर्ग के प्रति यह भावना साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण प्रकट हो रही थी। साम्यवाद का उदय मार्क्स के द्वारा हुआ था। मार्क्सवादी पूँजीवाद का विरोधी है। उसके अनुसार मनुष्य-मनुष्य में आर्थिक समानता होनी चाहिये। प्रगतिवाद-युग में हिन्दी कवियों ने बहुतायत से मार्क्सवादी विचारधारा को अपनाया। कारण, आर्थिक-क्रान्ति के क्षेत्र में मार्क्सवाद एक बहुत बड़ी देन थी। इसीलिए हिन्दी कवियों ने भी मार्क्सवाद का गुणगान किया। साथ ही साम्यवाद

१. जीवन के गान—शिवमंगल सिंह सुमन, पृ० ८४।
२. गण देवता—रामदयाल पाण्डेय, पृ० १७।
३. श्रमजीवी—सुमित्रानन्दन पन्त, युगवाणी।
४. आज क्रान्ति का शंख बज रहा—बालकृष्ण शर्मा नवीन, हम विषपायी जनम के, पृ० ४७९।

से प्रभावित प्रगतिवादी कवियों ने स्पष्ट स्वरों में इस पूँजीवाद को नष्ट करने की बात कही।

सुमित्रानन्दन पन्त ने 'मार्क्स' की प्रशस्ति में कहा—

वर्गहीन सामाजिकता देगी सबको सम साधन,
पूरित होंगे जन के भव जीवन के निखिल प्रयोजन।
दिग् दिगंत में व्याप्त, निखिल युग युग का चिर गौरव हर
जन संस्कृति का नव विराट् प्रासाद उठेगा भू पर।
धन्य मार्क्स! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर,
तुम त्रिनेत्र ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर[1]।

दिनकर ने भी दिल्ली और मास्को में साम्यवाद की संस्तुति की है। वह साम्यवाद को अमर क्रान्ति की विधायिका मानते हैं और वह नये युग की भवानी है, जो दलित, क्षुधित, पीड़ित मानवता का उद्धार करेगी——

जय विधायिके अमर क्रान्ति की! अरुण देश की रानी।
रक्त-कुसुम-धारिणि! जगतारिणि! जय नव शिवे! भवानी।
अरुण विश्व की काली, जय हो,
लाल सितारोंवाली, जय हो,
दलित, बुभुक्ष, विषण्ण मनुज की,
शिखा रुद्र मतवाली, जय हो[2]।

निराला भी साम्यवाद के आकांक्षी हैं। उन्हें विश्वास है कि सामाजिक वैषम्य एक दिन समाप्त हो जायगा। अमीरों की हवेली किसानों की पाठशाला बन जायगी। धोबी, पासी, चमार, तेली, सभी अंधकार दूर कर एक पाठ पढ़ेंगे—

आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला,
एक पाठ पढ़ेंगे, टाट बिछाओ[3]।

शोषितों से विद्रोह की कामना

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' निर्धन की लाचारी देखकर जगपति का टेंटुआ घोंटने की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। मनुष्य को जूठे पत्ते चाटते देखकर वे क्षुब्ध हो उठते हैं। वे सोचते हैं, क्यों नही ऐसी दुनिया को आग लगा दी जाय—

अरे चाटते जूठे पत्ते जिस दिन मैंने देखा नर को
उस दिन सोचा: क्यों न लगा दूँ आग आज इस दुनिया भर को?

---

१. मार्क्स के प्रति - सुमित्रानन्दन पन्त, युगपथ, पृ० २६।
२. दिल्ली और मास्को—दिनकर, सामधेनी, पृ० ५९।
३. बेला—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' पृ० ७८।

यह भी सोचा : क्यों न टेंटुआ घोंटा जाय स्वयं जगपति का ?
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

इतने से ही सन्तोष नहीं है। वे शोषितों को विद्रोह के लिए ललकारते हैं। इन्हें विश्वास है कि इन पीड़ितजनों में शक्ति का अखण्ड भाण्डार है। इसलिए वे उनका आह्वान करते हैं कि अपने हुंकारों से जल-थल भर दें, अनाचार में आग लगा दें—

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, और चिरदोहित,
तू अखण्ड भाण्डार शक्ति का, जाग, अरे निद्रा-सम्मोहित,
प्राणों को तड़पानेवाली हुँकारों से जल-थल भर दे,
अनाचार के अम्बारों में अपना ज्वलित पलीता धर दे[1]।

पूँजीवाद का विरोध होता रहा, क्योंकि पूँजीवाद का विनाश ही साम्यवाद लायगा। देश की आर्थिक दुर्दशा का कारण पूँजीवाद की मुनाफाखोरी है। शमशेर बहादुर सिंह काले बाजार का चित्रण करते हुए कहते हैं—

भूख·····
अनाज·····
मुनाफाखोर
अनाजचोर का
छिपा-सा निर्जन में
अंधेरा बाजार·····।

क्रान्ति से शान्ति की स्थापना पर आस्था

शिवमंगल सिंह 'सुमन' मेहनतकशों की जीत के पक्षपाती हैं। उन्होंने आर्थिक क्रान्ति का अत्यन्त तीखा स्वरूप उपस्थित किया है—

मेहनतकश की मेहनत होगी जग का एक सहारा।
मुट्ठी बाँध कहेंगे हम सब, सारा विश्व हमारा।
इस जाग्रति के स्वर में जन-जन-कण-कण आज शरीक हैं[2]।

उदयशंकर भट्ट को लगता है कि विश्वशान्ति द्वारा ही क्रान्ति मिलेगी। कारण, भूख और अशान्ति की समस्या क्रान्ति ही सुलझा सकेगी और तब संसार में शान्ति की स्थापना हो सकेगी—

भूख है, अशान्ति है, युद्ध और क्रान्ति है,
क्रान्ति विश्वशान्ति है—हो न तू निर्बल[3] !

'सुमन' इसी क्रान्ति को परिवर्तन कहते हैं। इस परिवर्तन से ही उत्कर्ष होगा।

---

१. जूठे पत्ते—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' हम विषपायी जनम के, पृ० ४९४।
२. बर्लिन अब नजदीक है—सुमन, हंस, पृ० ६९, १९४३।
३. युगदीप—उदयशंकर भट्ट, पृ० ६।

इसलिए नंगे-भिखमंगों की टोली नवीन उत्साह से भर कर शोषकों के प्रति विरोधी आवाज उठाती है—

नयनों में नव उत्साह लिये
नंगों भिखमंगों की टोली
शोषक जग के प्रति बोल रही
कुछ-कुछ परिवर्तित सी बोली
मानव जीवन ही परिवर्तन, परिवर्तन ही उत्कर्ष सखे।
आया है नूतन वर्ष सखे।

अज्ञेय पूँजीपतियों के विरुद्ध घृणा के गान गाते हैं। वे उन सत्ताधारियों को ललकारते हैं, जो महलों में बैठकर आदेश देते हैं, शिशु के मरने की परवाह नहीं करते और स्त्री के बालों को खींचकर पकड़ मँगवाते हैं। ऐसे सत्ताधारी निर्धन के घर दो मुट्ठी धान तक नहीं देख सकते—

तुम जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश,
मरने दो बच्चे, ले आओ खींच पकड़ कर केश।
नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान[1]।

नरेन्द्र शर्मा हथौड़ा और दराँतीधारी मजदूरों का आह्वान करते हैं और उनके अधिकारों को बताते हैं। उनके अनुसार वे ही दुनिया के मालिक हैं, जो परिश्रम करते हैं—

आओ सब मेहनतकश साथी
लिए हथौड़ा और दराँती।
जो मेहनत से पैदा करते
मालिक हैं ये दुनिया भरके

युग-परिवर्तन के प्रति अटूट आस्था

तत्कालीन कवियों को दृढ़ विश्वास है कि एक दिन जमाना बदल जायगा। वह भूखों और नंगों से कहता है कि जग का यह अनाचारी विधान अवश्य पलट जायगा—

बदलेगा—
बदलेगा जमाना बदलेगा
बदलेगा।
कह दो भूखों और नंगों से
पलटेगा—
पलटेगा इस जग का विधान

---

१. घृणा का गान—अज्ञेय, इत्यलम्, पृ० ५२।

पलटेगा—
बदलेगा, जमाना बदलेगा[1]।

और कवि को विश्वास है कि अब पूँजीपति निर्धन की रोटी और इज्जत नहीं लूट सकेगा, उसका आसन डोल जायगा। पर इसके लिए मजदूरों को उसकी कीमत चुकानी होगी। रक्त की नदी बहानी होगी। और तब इस सड़े-गले शासन-विधान को ठोकर लगेगी। पर इसके लिए साम्यवाद की स्थापना आवश्यक है, क्योंकि वही अरुण ज्योति है और उसके साथ ही आशा का सूर्य उदय होगा—

नहीं लूट सकेगा पूँजीपति
निर्धन की रोटी औ' इज्जत
डोलेगा पूँजी का आसन
डोलेगा—
बदलेगा जमाना, बदलेगा।
किन्तु,
शोणित की नदी बहानी है
कीमत मजदूर चुकानी है
इस सड़े गले शासन-विधान
को ठोकर एक लगानी है
निकलेगा—
उस अरुण ज्योति के साथ शीघ्र
आशा का सूरज निकलेगा[2]।

सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हो गया। अतः विदेशी अर्थ-परतन्त्रता भी नहीं रह गयी। पर पूँजीवाद की समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रही। इसीलिए ये कवि पूँजीवादी व्यवस्था के नाश की कामना अपनी रचनाओं में करते रहे। जैसा कि ऊपर उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट है।

इस प्रकार इन कवियों ने पूँजीवाद के नाश के लिए क्रान्ति का आह्वान किया और साम्यवाद की स्थापना चाही, क्योंकि तभी आर्थिक क्रान्ति की सफलता का लक्ष्य पूरा होगा। इसीलिए इस युग के हिन्दी काव्य में आर्थिक क्रान्ति का स्वर अत्यन्त तीखे रूप में उभरा। कवि पूँजीवादी शोषण के विरोध में मजदूरों, किसानों, शोषितों का गुणगान करते रहे और साथ ही उन्हें क्रान्ति के लिए भी आहूत करते रहे।

---

१. बदलेगा जमाना—रामेश्वर उपाध्याय—हंस, पृ० ९१६, सितम्बर १९४८ ई०।
२. बदलेगा जमाना—रामेश्वर उपाध्याय, हंस, सितम्बर, १९४८, पृ० ९१९।

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

अपरा, २००९ वि० —सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

आधुनिक कवि, २०१० वि० —सुमित्रानन्दन पन्त

आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, २००४ वि० —केशरीनारायण शुक्ल

आधुनिक हिन्दी साहित्य, सन् १९४८ —लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, सन् १९५२ —लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

इत्यलम, सन् १९४६ —हीरानन्द सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

कांग्रेस का इतिहास, सन् १९३८ —पट्टाभि सीतारमैया

क्रान्ति और संयुक्त मोर्चा, सन् १९४३ —स्वामी सहजानन्द सरस्वती

क्रान्ति का अगला कदम, सन् १९५५ —दादा धर्माधिकारी

क्रान्ति की पुकार, सन् १९५४ —ठाकुरदास बंग

क्रान्ति की राह पर, सन् १९५६ —निर्मला देशपाण्डे

क्रान्तिवाद, सन् १९५७ —विश्वनाथ राय

किसान, १९७८ वि० —मैथिलीशरण गुप्त

खादी लहरी, सन् १९२९ —बुद्धिनाथ झा कैरव

गण देवता, २००० वि० —रामदयाल पाण्डेय

ग्राम्या, २००८ वि० —सुमित्रानन्दन पन्त

गीतिका, १९९३ वि० —सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

चर्खा, सन् १९२१ —दीनदत्त

चन्द्रगुप्त, २००९ वि० —जयशंकर प्रसाद

छायावाद युग, सन् १९५२ —शंभुनाथ सिंह

जाग्रत भारत, सन् १९२२ —माधव शुक्ल

जीवन के गान, सन् १९४५ —शिवमंगल सिंह 'सुमन'

त्रिशूल तरंग, सन् १९२१ —त्रिशूल

धरती, सन् १९४५ —त्रिलोचन शास्त्री

नवयुग के गान, १९९०. वि० —जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द'

नवीन, २००२ वि० —गोपाल सिंह नेपाली

पद्य पुष्पांजलि, १९७२ वि० —पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा

पद्य प्रदीप, १९७८ वि० —गोकुलचन्द्र शर्मा

पराग, सन् १९२४ —रूपनारायण पाण्डेय
परिमल, २००७ वि० —सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
प्रभातफेरी, सन् १९३९ —नरेन्द्र शर्मा
प्रभाती, सन् १९४६ —सोहनलाल द्विवेदी
प्रलय सृजन, सन् १९४४ —शिवमंगलसिंह 'सुमन'
प्रेमघन सर्वस्व, १९९६ वि० —बदरीनारायण चौधरी
बलिपथ के गीत, सन् १९५० —जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'
बालमुकुन्द गुप्त निबन्धावली,
२००७ वि० सम्पादक—झावरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी
बापू और मानवता, सन् १९४५ —कमलापति शास्त्री
बेला, १९९२ वि० —सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
भारत भारती, २००९ वि० —मैथिलीशरण गुप्त
भारत गीत (प्रथम संस्करण) —श्रीधर पाठक
भारत गीतांजलि, १९४७ —माधव शुक्ल
भारत विनय, सन् १९१६ —श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र
भारत : वर्तमान और भावी, सन् १९५६ —रजनी पामदत्त
भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास,
सन् १९५२ —गुरुमुख निहाल सिंह
भारतीय स्वातन्त्र्य समर (प्रथम संस्करण) —विनायक दामोदर सावरकर
भारतेन्दु ग्रन्थावली, २०१० वि० —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भारतेन्दु नाटकावली —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सन् १९५३ —रामविलास शर्मा
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, सन् १९५६ —लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
भारतेन्दु युग, सन् १९५१ —रामविलास शर्मा
मरण ज्वार, सन् १९६३ —माखनलाल चतुर्वेदी
मधूलिका —रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
मनोविनोद, सन् १९१७ —श्रीधर पाठक
मानव, सन् १९४८ —भगवतीचरण वर्मा
मुकुल, सन् १९४७ —सुभद्राकुमारी चौहान
युगपथ, २००६ वि० —सुमित्रानन्दन पन्त
युगवाणी (तृतीय संस्करण) — ,, ,,
युग-दीप, २००१ वि० —उदयशंकर भट्ट
युगाधार, २००१ वि० —सोहनलाल द्विवेदी
राधाकृष्ण ग्रन्थावली, सन् १९३० —सं०—श्यामसुन्दरदास
राष्ट्रीय मन्त्र, सन् १९२१ —त्रिशूल

रेणुका, सन् १९३९ —रामधारी सिंह 'दिनकर'
रीति काव्य की भूमिका, सन् १९५३ —नगेन्द्र
लोकोक्ति शतक —प्रतापनारायण मिश्र
विश्व इतिहास की झलक (प्रथम सं०) —जवाहरलाल नेहरू
शंकर सर्वस्व, २००८ वि० —नाथूराम शंकर शर्मा
शान्ति के नूतन क्षितिज, सन् १९५८ —चेस्टर बोल्स
संस्कृति के चार अध्याय, सन् १९५६ —रामाधारी सिंह 'दिनकर'
स्कन्द गुप्त, २०११ वि० —जयशंकर 'प्रसाद'
स्वतन्त्र दिल्ली, सन् १९५७ —डा० सैयद अतहर अब्बास रिज़वी
स्वतन्त्रता की झनकार, सन् १९२२ —सं० जीतमल लूणिया
स्वर्णधूलि, २००४ वि० —सुमित्रानन्दन पन्त
सामधेनी, सन् १९४९ —रामधारी सिंह 'दिनकर'
हम विषपायी जनम के, सन् १९६४ —बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
हिन्दू, १९८४ वि० —मैथिलीशरण गुप्त
हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, २०११ वि० —डा० रवीन्द्रसहाय वर्मा
हिन्दी कविता में युगान्तर, सन् १९५७ —सुधीन्द्र
हिन्दी साहित्य का इतिहास, २००२ वि० —रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दुस्तान में पूँजी कारबार की उन्नति, सन् १९३४ —डी० एच० बकनन
हिम किरीटिनी, सन् १९२२ —माखनलाल चतुर्वेदी
हुंकार, सन् १९५२ —रामधारी सिंह 'दिनकर'

अंग्रेजी

इण्डियाज साइलेण्ट रिवोल्यूशन (१९२०) —एफ० बी० फिशर
इण्डियन अनरेस्ट (१९१०) —वेलेन्टाइन शिरोल
इण्डियन नेशनल मूवमेंट एण्ड थाट (१९५१) —बी० पी० एस० रघुवंशी
इण्डिया-ए नेशन —एनी बीसेंट
इण्डिया इन ट्रेंजिसन (१९२२) —एम० एन० राय
इण्डियन नैशनलिज्म (१९१३) —एडविन बेविन
इण्ट्रोडक्शन टू द हिस्ट्री आव गवर्नमेंट इन इण्डिया —सी० एल० आनन्द
इकानामिक हिस्ट्री आव इण्डिया इन द विक्टोरियन एज —आर० दत्ता
ए डिकेड आव रिवोल्यूशन (१९३४) —क्रेन ब्रिटन

एनसाइक्लोपीडिया आव सोशल साइन्सेज (संस्करण अलिखित)
डिस्कवरी आव इण्डिया (१९४६) —जवाहरलाल नेहरू
द अवेकनिंग आव इण्डिया —जे० आर० मैक्डोनाल्ड
द इण्डियन स्ट्रगल —सुभाषचन्द्र बोस
पोलिटिकल फिलासफी आव अरविन्दो (१९६०) —वी० पी० वर्मा
यंग इण्डिया —लाजपतराय
राइज एण्ड ग्रोथ आव इण्डियन मिलिटेंट नेशनलिज्म (१९४०) —एम० ए० बच
रिफ्लेक्शन आन द रिवोल्यूशन आव अवर टाइम (१९४६) —हैराल्ड जे० लास्की
रिवोल्यूशन इन इण्डिया (१९४६) —फ्रांसिस गुंथर